CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2280

16.2

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

ŚRAMAṆA

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII **No. III-IV** **July-December 2006**

Editor-in-Chief

Prof. Sagarmal Jain

Editor

Dr. Shriprakash Pandey

2860

Publisher

Prof. Sagarmal Jain

For

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

(Recognized by Banaras Hindu University as an external Research Centre)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमणः पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

Śramṇa : A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII **No. III-IV** **July-December 2006**

ISSN-0972-102

Subscription

Annual membership

For Institutions : Rs. 250.00

For Individuals : Rs. 200.00

Per Issue Price : Rs. 25.00

Life Membership

For Institutions : Rs. 1500.00

For Individuals : Rs. 500.00

Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of ***Parshwanath Vidyapeeth***

Published by : Prof. Sagarmal Jain, for Parshwanath Vidyapeeth
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890

Email : Parshwanathvidyapeeth@sify.com

Type Setting by : Vimal Chanra Mishra
Rathyatra, Varanasi-221005

Printed at : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

श्रमण जुलाई-दिसम्बर २००६ का संयुक्तांक सम्माननीय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। पिछले अंक की तरह इस अंक के हिन्दी खण्ड में जैन साहित्य, दर्शन, आचार, इतिहास, कला एवं संस्कृति से जुड़े कतिपय महत्त्वपूर्ण आलेख प्रकाशित किए गये हैं। वर्तमान में एक प्रश्न अधिक चर्चा में है कि 'जैन हिन्दू ही हैं' या इस धर्म का अपना अलग अस्तित्व है। एतद् विषयक अनेक प्रश्नों का सम्यक् विश्लेषण करने वाले एक लेख (जैन हिन्दू ही हैं लेकिन किस अर्थ में?), का प्रकाशन इस आशय के साथ किया जा रहा है कि वह इस सन्दर्भ में उठ रही अनेक भ्रांतियों के निवारण में सक्षम हो सकेगा। अंग्रेजी खण्ड में जैन दर्शन एवं कला से सम्बन्धित चार आलेखों का समावेश किया गया है। सभी आलेख विषयवस्तु, प्रस्तुति एवं भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। चूँकि पिछला जुलाई-सितम्बर; २००६ अंक अपरिहार्य कारणों से समय से नहीं निकल पाया अत: इसके प्रकाशन के लिए निर्धारित समय अन्तराल को नियमित करने के लिए हमें इसे संयुक्त रूप से निकालना पड़ रहा है।

इस अंक के साथ हम अपने सम्माननीय पाठकों के लिए जैन कथा-साहित्य में विशिष्ट स्थान रखने वाली प्राकृत-भाषा-निबद्ध श्रीमद् धनेश्वर सूरि विरचित 'सुरसुंदरीचरिअं' का पंचम परिच्छेद कतिपय कारणों से प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं। आशा है अगले अंक में हम अपने सुधी पाठकों को इस कथा रस में निमज्जित कर सकेंगे। अगले अंक से श्रमण के हिन्दी खण्ड का सम्पादन डॉ. विजय कुमार करेंगे तथा अंग्रेजी खण्ड का सम्पादन सम्पादक स्वयं करेगा।

सुधी पाठकों से निवेदन है कि आपकी आलोचनायें ही हमें पूर्णता प्रदान करती हैं। एतदर्थ आप अपने अमूल्य विचारों/आलोचनाओं से हमें वंचित न करें, उनसे हमें सदा अवगत कराते रहें ताकि आगामी अंकों में हम अपनी कमियां सुधार सकें।

सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण

जुलाई-दिसम्बर २००६

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. प्राकृत-महाकाव्यों में ध्वनि-तत्त्व –डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव १

२. आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीत उपदेशपद : एक अध्ययन –डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' ११

३. जैन 'हिन्दू' ही हैं, लेकिन किस अर्थ में? – विनायक दामोदर सावरकर २६

४. जैन साहित्य में शिक्षा का स्वरूप – अजय कुमार गौतम ३९

५. जैन दर्शन का कारणता सिद्धान्त –डॉ. श्रुति दुबे ४४

६. जैन दर्शन में ईश्वर विचार –डॉ. सुधा जैन ५२

७. अनेकान्तवाद एवं उसकी प्रासंगिकता –डॉ. मनोज कुमार तिवारी ५८

८. अनेकान्तवाद–एक दृष्टि –डॉ. जयशंकर सिंह ६६

९. जैन चिन्तन में मन की अवधारणा –डॉ. अजय कुमार ७५

१०. जैन दर्शन व शैव सिद्धान्त दर्शन में प्रतिपादित मोक्षः एक तुलनात्मक अध्ययन –डॉ. शारदा सिंह ८०

११. वर्णव्यवस्था–जैनधर्म तथा हिन्दू धर्म के सन्दर्भ में –डॉ. दीपंजय श्रीवास्तव ९०

१२. हिन्दू परम्परा में कर्म सिद्धान्त की अवधारणा –डॉ. रजनीश शुक्ल ९६

१३. भारतीय विद्या में शब्दविषयक अवधारणा का विकास –डॉ. जयन्त उपाध्याय १०५

१४. दु:ख का कारण कर्म नहीं कामना –कन्हैया लाल लोढा ११४

१५. जैन आगमों में शिल्प : एक दार्शनिक दृष्टि –डॉ. राघवेन्द्र पाण्डेय १२५

१६. तीर्थंकरों की मूर्तियों पर उकेरित चिह्न –डॉ. उमाकान्त पी. शाह १३२

१७. फतेहपुर सीकरी से प्राप्त श्रुतदेवी (जैन सरस्वती) की प्रतिमा डॉ. अशोक प्रियदर्शी १४०

१८. कला की अनुपम कृति जबलपुर का श्री शीतलनाथ मंदिर –कृष्णमुरारी पाण्डेय १४५

१९. स्मृति प्रमाण (प्रमाणमीमांसा के संदर्भ में) एक समीक्षात्मक अध्ययन –भूपेन्द्र शुक्ल १४८

ENGLISH SECTION

20. Dravya, Guṇa and Paryāya in Jaina Thought –*Jayendra Soni* 157

21. Environmental Aspect of Non-violence –*Dr. B. N. Sinha* 174

22. Philosophical Interpretations of Religion – *Prof. S. P. Dubey* 185

23. Buddhists Ethics and its Contemporary Relevance –*Dr. R.K. Gupta* 197

24. Anekāntavāda : A Way Towards World Peace –*Dr. Baleshwar Prasad Yadav* 203

25. The Jaina Tantric Yantras –*Lalit Kumar* 207

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी खण्ड

- प्राकृत-महाकाव्यों में ध्वनि-तत्त्व
- आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीत उपदेशपद : एक अध्ययन
- जैन 'हिन्दू' ही हैं, लेकिन किस अर्थ में?
- जैन साहित्य में शिक्षा का स्वरूप
- जैन दर्शन का कारणता सिद्धान्त
- जैन दर्शन में ईश्वर विचार
- अनेकान्तवाद एवं उसकी प्रासंगिकता
- अनेकान्तवाद–एक दृष्टि
- जैन चिन्तन में मन की अवधारणा
- जैन दर्शन व शैव सिद्धान्त दर्शन में प्रतिपादित मोक्षः एक तुलनात्मक अध्ययन
- वर्णव्यवस्था–जैनधर्म तथा हिन्दू धर्म के सन्दर्भ में
- हिन्दू परम्परा में कर्म सिद्धान्त की अवधारणा
- भारतीय विद्या में शब्दविषयक अवधारणा का विकास
- दुःख का कारण कमी नहीं कामना
- जैन आगमों में शिल्प : एक दार्शनिक दृष्टि
- तीर्थंकरों की मूर्तियों पर उकेरित चिह्न
- फतेहपुर सीकरी से प्राप्त श्रुतदेवी (जैन सरस्वती) की प्रतिमा
- कला की अनुपम कृति जबलपुर का श्री शीतलनाथ मंदिर
- स्मृति प्रमाण (प्रमाणमीमांसा के संदर्भ में) एक समीक्षात्मक अध्ययन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

प्राकृत-महाकाव्यों में ध्वनि-तत्त्व

साहित्यवाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव*

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध काव्यानुशासन 'साहित्यदर्पण' में ध्वनि-तत्त्व से सम्पन्न काव्य को उत्तम काव्य की संज्ञा दी है: **'वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।'** (अध्याय ४: कारिका१) अर्थात्, वाच्य से अधिक चमत्कारजनक व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं और जिस काव्य में ध्वनि की प्रधानता होती है, उसे ही उत्तम काव्य कहा जाता है। वस्तुत:, व्यंग्य ही ध्वनि का प्राण है। प्रसिद्ध ध्वनिप्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन (नवीं शती) के अनुसार ध्वनि (ध्वन्+इ) काव्य की आत्मा है या वह एक ऐसा काव्यविशेष है, जहाँ शब्द और अर्थ अपने मुख्यार्थ को छोड़ किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं।[१] वस्तुत:, ध्वनि, काव्य के सौन्दर्यविधायक तत्त्वों में अन्यतम है।

सभी विद्याएँ व्याकरणमूलक हैं, इसलिए ध्वनि का आदिस्रोत वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त में निहित है। 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति (१.१६) से स्पष्ट है कि साहित्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द को वैयाकरणों से आयत्त किया है।[२] वैयाकरणों के अनुसार, स्फोट को अभिव्यक्त करने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में कहा है कि वर्णों के संयोग और वियोग, अर्थात् मिलने और हटने से जो स्फोट उत्पन्न होता है, शब्द या वर्णजनित वही शब्द ध्वनि है।[३] और फिर, स्फोट का परिचय या परिभाषा प्रस्तुत करने के क्रम में आचार्य भर्तृहरि ने कहा है कि शब्द के दो भेदों— प्राकृत और वैकृत में प्राकृत ध्वनि स्फोट के ग्रहण में कारण है। शब्द की अभिव्यक्ति से जो आवाज होती है, वह वैकृत ध्वनि है और वह भी स्फोटस्वरूप ही है। वस्तुत: ध्वनि और स्फोट में एकात्मकता है।[४]

ध्वनिवादी आचार्य रस को ध्वनि का अंग मानते हैं। उन्होंने ध्वनि के

---

* *७, भारतीय स्टेट बैंक कॉलोनी, काली मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना-८०००२०*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्यत: तीन भेदों का निर्देश किया है— वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। आनन्दवर्द्धन ने रस को व्यंग्य कहा है, अर्थात् रस तो ध्वनिस्वरूप ही हो सकता है, उसका कथन नहीं किया जा सकता। और फिर, ध्वनि के बिना रस की व्यंजना सम्भव ही नहीं है। रस अनिवार्यत: ध्वनिरूप है और रसध्वनि ही सर्वोत्तम ध्वनि है और ध्वनि ही काव्य की आत्मा है: **'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति।'–ध्वन्यालोक।**

साहित्यशास्त्रियों के मतानुसार पाँच हजार तीन सौ पचपन प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं, परन्तु ध्वनि के शुद्ध भेद कुल इक्यावन हैं। इनमें भी कुल अट्ठारह ध्वनियों को ही प्रमुखता प्राप्त है; जैसे अर्थ-शक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेदों के अतिरिक्त शेष छह इस प्रकार हैं—

१. शब्दशक्त्युद्भव वस्तुध्वनि, २. शब्दशक्त्युद्भव अलंकारध्वनि,

३. शब्दार्थशक्त्युद्भव वस्तुध्वनि, ४. असंलक्ष्यक्रमध्वनि तथा अविवक्षितवाच्य के दो भेद:, ५. अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि एवं

६. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि।[५]

प्राकृत के उत्तम महाकाव्यों में ये समस्त ध्वनि-भेद गवेषणीय हैं; क्योंकि उनमें ध्वनि-तत्त्व की समायोजना विशेष रूप से हुई है। तभी तो ध्वनिशास्त्रियों ने ध्वनि-तत्त्व की विवेचना के क्रम में प्राकृत-गाथाओं को साग्रह सन्दर्भित किया है। आनन्दवर्द्धन और विश्वनाथ के लिए तो प्रसिद्ध प्राकृत-काव्य 'गाहासत्तसई' इस प्रसंग में विशेष उपजीव्य रही है।

ईसवी प्रथम सदी के ख्यातनाम प्राकृत-कवि राजा हाल सातवाहन की प्रसिद्ध शतक-काव्यकृति 'गाहासत्तसई' शास्त्रीय महाकाव्य की परिभाषा की सीमा में यद्यपि नहीं आती है, उसकी गणना प्राकृत-मुक्तक-काव्य में होती है, तथापि अपनी गुणात्मक विशिष्टता से वह महाकाव्यत्व की गरिमा अवश्य ही आयत्त करती है, जिस प्रकार महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' काव्य खण्डकाव्य होते हुए भी अपने रसात्मक गुण-वैशिष्ट्य से महाकाव्यत्व के मूल्य का अधिकारी है। इसे महाकवि माघ के महाकाव्य 'शिशुपालवध' की समकक्षता प्रदान कर कहा गया है: **'माघे मेघे गतं वयः।'** अर्थात्, शिशुपालवध (माघकवि-कृत) एवं मेघदूत (मेघकाव्य: कालिदास-कृत) के अनुशीलन में पूरी उम्र बीत जाने पर भी उसका मर्म अज्ञात ही रह जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि की वाणी-रूप काव्य में निहित उसके अंग-रूप अलंकार आदि में व्यंग्य या ध्वनि की स्थिति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार सुन्दरियों के प्रत्यक्ष दृश्यमान अवयवों के सौन्दर्य के अतिरिक्त उन अंगों में मोती के आब या छाया की तरलता की तरह चमकने वाला लावण्य या लुनाई कुछ और ही होती है। जिस प्रकार लुनाई प्रत्यक्ष न होकर प्रतीयमान होती है, उसी प्रकार ध्वनि या व्यंग्य की प्रतीति होती है:

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

(ध्वन्यालोक: कारिका-सं०४)

ध्वनिवादी साहित्यशास्त्रियों ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के उदाहरण में 'गाहासत्तसई' की इस कथा को बहुश: सन्दर्भित किया है:

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलानईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण।।

(शतक २ : गाथा ७५)

इस गाथा में किसी अभिसारिका नायिका के एकान्त संकेत-स्थल, गोदावरी नदी के तटवर्ती कुंज में फूल चुनने के लिए पहुँचे हुए विघ्नस्वरूप किसी धार्मिक से वह नायिका कहती है कि हे धार्मिक! आप गोदावरी नदी के तटवर्ती कुंज में निर्भय भाव से भ्रमण करें; क्योंकि आज कुंज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने आपको तंग करने वाले कुत्ते को मार डाला है। नायिका के इस कथन में कुत्ते से डरनेवाले धार्मिक के लिए सिंह से मारे जाने का भय उत्पन्न करके कुंज में इसके भ्रमण का निषेध किया गया है अर्थात्, कुत्ते की जगह सिंह के आ जाने से धार्मिक की भयस्थिति और अधिक भयावह हो गई है। यहाँ विधिरूप वाच्य में प्रतिषेधरूप व्यंग्य का विनियोग हुआ है। इस गाथा में वाच्य या मुख्य अर्थ से व्यंग्य की सर्वथा भिन्नता के कारण ही वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि की योजना हुई है।

'गाहासत्तसई' में ही अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का एक उदाहरण इस प्रकार है:

घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण ,हत्थेण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छित्तं मुहं हसिज्जइ चंदावत्थं गअं पइणा।।

(तत्रैव: गाथा-सं० १३)

इस गाथा में एक ऐसी नायिका का चित्रण है, जिसके हाथ रसोई के काम में लगे रहने के कारण मलिन हो गये हैं। उस नायिका ने उन्हीं मलिन कालिख लगे हाथों से अपने मुँह को छुआ है जिससे उसके मुख में कालिख लग गई है, जिसे देखकर उसका पति उपहासपूर्वक कहता है कि कालिख-लगा तुम्हारा मुँह सच्चे अर्थ में लांछनयुक्त चन्द्रमा के समान प्रतीत होता है। यहाँ विरूपता ही अलंकरण हो गई है; क्योंकि जिसका जो उचित कार्य है, उसके करने में विकृति भी प्रकृति बन जाती है। कुलस्त्रियों के लिए गृहकार्य से विमुख होना ही अनुचित है, यही यहाँ ध्वनि है, जो वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न या तिरस्कृत होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि है। इसे वस्तु से वस्तुध्वनि या वाच्यार्थ का रूपान्तर होने से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि भी कह सकते हैं।

घण्टा बजाने के बाद उससे निकली रनरनाहट की जो सूक्ष्म आवाज गूँजती है, वही ध्वनि है। इस प्रकार, काव्य की ध्वनि वाच्य अर्थ से निकले भिन्न अर्थ में निहित रहती है, जिसकी गूँज की प्रतीति हृदयों को होती है। पाँचवी शती के कूटस्थ प्राकृत-महाकवि प्रवरसेन-प्रणीत 'सेतुबन्ध' महाकाव्य की, सागर-वर्णन से सम्बद्ध इस गाथा में अलंकार से अनुरणित वस्तुध्वनि की मनोज्ञता द्रष्टव्य है:

उक्खअदुमं व सेलं हिमहअकमलाअरं व लच्छिविमुक्कं।
पीअमइरं व चसअं बहुलपओसं व मुद्धचंदविरहिअं।।

(आश्वास २: गाथा ११)

कवि की उत्प्रेक्षा है कि समुद्र उस पर्वत के समान लगता है, जिसके पेड़ उखाड़ लिये गये हों; वह समुद्र उस श्रीहीन सरोवर जैसा प्रतीत होता है, ज़िसका कमलवन तुषार से आहत हो गया है; वह उस प्याला के सामन दिखाई पड़ता है, जिसकी मदिरा पी ली गई हो और वह उस अन्धकारपूर्ण रात्रि की तरह मालूम होता है, जो मनोरम चन्द्रमा से रहित हो।

समुद्र के सन्दर्भ में महाकवि की इस उत्प्रेक्षा (अलंकार) से समुद्र के विराट् और भयजनक रूप जैसी वस्तु ध्वनित या व्यंजित होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी क्रम में महाकवि प्रवरसेन द्वारा आयोजित अलंकार से वस्तुध्वनि का एक और मनोरम चमत्कार इस गाथा में दर्शनीय बन पड़ा है:

ववसाअरइपओसो रोस-गइंददिढसिंखलापडिबंधो।
कह कह वि दासरहिणो जअकेसरिपंजरो गओ घणसमओ।।

(आश्वास १: गाथा१४)

यहाँ राम के वर्षाकाल बिताने का वर्णन है। कविश्रेष्ठ प्रवरसेन ने रूपक अलंकार के द्वारा यह निर्देश किया है कि वर्षाकाल का समय राम के पुरुषार्थ-रूप सूर्य के लिए मजबूत जंजीर का बन्धन हो गया था। अर्थात्, वर्षावास की अवधि में राम न तो पुरुषार्थ का प्रदर्शन कर सकते थे, न ही अपने रोष को व्यक्त कर सकते थे और न विजय के लिए अभियान ही कर सकते थे। अतएव, महाकवि के इस वर्णन में रूपक अलंकार के माध्यम से राम की किंकर्त्तव्यविमूढता-रूप वस्तु की व्यंजना हुई है, जो अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

वाक्पतिराज (प्रा. वप्पइराअ) आठवीं शती के प्राकृत-महाकवियों में पांक्तेय हैं। इनके कलोत्तीर्ण महाकाव्य 'गउडवहो' में ध्वनि-तत्त्वों का भूरिशः विनियोग, विविधता और बहुलता, दोनों दृष्टियों से हुआ है। महाकवि के इस काव्य में अलंकार से वस्तुध्वनि और वस्तु से अलंकारध्वनि की विशेष आयोजना की गई है। यहाँ अलंकार से अर्थशक्त्युद्भवबस्तुध्वनि से युक्त एक गाथा उपन्यस्त है:

गणवइणो सइ-संगअ-गोरी-हर-पेम्म-राअ-विलिअस्स।
दंतो वाम-मुहद्धंत-पुंजिओ जअइ हासो व्व।।

(मंगलाचरण : गाथा-सं.५४)

यहाँ महाकवि ने निर्देश किया है कि सदा साथ रहनेवाले अपने माता-पिता पार्वती और शिव के प्रेम और अनुराग से लजीले गणेश का दाँत उनके मनोहर मुख के कोर पर संचित या पुंजीभूत हास की तरह प्रतीत होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'हासो व्व' इस उपमा (अलंकार) द्वारा गणेश की सर्वांगगौरता-रूप वस्तु ध्वनित है।

इस क्रम में महाकवि वप्पइराअ की वाक्यगतकविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकारध्वनि की एक मनोहारी योजना इस गाथा में द्रष्टव्य है:

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वयाश्रय महाकाव्य 'कुमारवालचरियं' तो सविशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ आचार्य महाकवि के द्वारा प्रस्तुत वाक्यगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि का एक उदाहरण विन्यस्त है:

जस्सिं सकलंकं वि हु रयणी-रमणं कुणंति अकलंकं।
संखधर-संख-भंगोज्जलाओ भवणंसु-भंगीओ।।

(सर्ग १: गाथा-सं.१६)

अर्थात् राजा कुमारपाल की राजधानी अणहिलपुर के भवनों में जड़े हुए रत्नों की कान्ति सकलंक चन्द्र को भी निष्कलंक बनाती है। यहाँ वाक्यगत वर्णन में उपमान चन्द्र की अपेक्षा उपमेय रत्नकान्ति को श्रेष्ठ बतानेवाले व्यतिरेक अलंकार के माध्यम से अणहिलपुर की समृद्धि का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन रूप अतिशयोक्ति अलंकार ध्वनित है। साथ ही, सकलंक चन्द्र को निष्कलंक बनाने की बात कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु है।

आचार्य महाकवि द्वारा आयोजित पदगत अत्यन्त-तिरस्कृत या अविवक्षितवाच्य ध्वनि का हृदयावर्जक उदाहरण निम्नांकित गाथा में दर्शनीय है:

जत्थ भवणाण अवरिं देव-नागेहिं विम्हया दिट्ठो।
रमइ मणोसिलगोरो मणसिललित्तो मयच्छिजणो।।

(सर्ग १: गाथा-सं.१३)

यहाँ कवि के वक्तव्य का आशय यह है कि अणहिलनगर के गगनचुम्बी भवनों के ऊपर क्रीडारत देवांगना-स्वरूप चपलनयना सुन्दरियों या राजवधुओं को आकाशचारी देव और नागकुमार विस्मयान्वित होकर देख रहे थे। सुन्दरियाँ मैनसिल धातु की तरह गोरी थीं और उनका गोरा शरीर मैनसिल के विलेपन से युक्त था।

इस प्रसंग में महाकवि द्वारा प्रयुक्त 'मयच्छिजणो' ('मृगाक्षिजन:' अथवा 'मदाक्षिजन:') शब्द या पद में अध्यवसित उपमेय-रूप चंचल या मदविह्वल आँखों का झटिति बोध हो जाता है। 'मयच्छि' शब्द या पद अपना मुख्य अर्थ छोड़कर हरिण की तरह चंचल या मद से घूर्णमान आँख का अर्थ देने से जहत्स्वार्था लक्षणा है।

यहां अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से यह ध्वनि यह निकलती है कि सुन्दरियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की मनोज्ञ आँखें हिरण की आँखों की तरह आयत एवं चंचल या फिर मदालस होने के कारण दर्शनीय हैं और 'मयच्छि' में व्यंजना के गर्भित होने के कारण यह पदगत श्लेष की अलंकार-ध्वनि का भी उदाहरण है।

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा उपस्थापित संलक्ष्यक्रमरसध्वनि का एक निदर्शन दर्शनीय है:

जमुण गमेप्पि गमेप्पिणु जन्हवि
गम्पि सरस्सइ गम्पिणु नम्मद।
लोउ अजाणउ जं जलि बुड्डइ
नं पसु किं नीरई सिव-सम्मद।।

(तत्रैव, ८.८०)

अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि नदियों में स्नान करने से यदि शुद्धि हो, तो महिष आदि पशुओं की भी शुद्धि हो जानी चाहिए; क्योंकि वे भी इन नदियों में डुबकी लगाते ही रहते हैं। जो लोग अज्ञानतापूर्वक इन नदियों में स्नान तो करते हैं, पर अपने आचार-विचार को शुद्ध नहीं करते, उन्हें कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

प्रस्तुत प्रसंग में महाकवि की काव्यभाषिक उक्ति में व्यंग्यरूप से शान्तरस प्रतीति होती है। और फिर, स्नान के बाद मुक्ति का क्रम भी यहाँ लक्षित हो रहा है, साथ ही वाच्यार्थबोधपूर्वक ध्वनिरूप में पुनः शान्तरस भी अभिव्यंजित है।

नवी-दशवीं शती के प्रख्यात महाकवि कोऊहल ने अपने रोमानी अथवा कल्पनाप्रधान 'लीलावई' महाकाव्य में ध्वनि-तत्त्व के अनेक अनुशीलनीय आयामों की उपस्थापना की है। युद्धवीर राजा सातवाहन की प्रशस्ति में लिखित निम्नांकित गाथा में महाकवि द्वारा विनियुक्त अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्य-रसध्वनि की मनोरमता अतिशय मोहक है:

णिय-तेय-पसाहिय-मंडलस्स ससिणो व्व जस्स लोएण।
अक्कंत-जयस्स जए पट्ठी न परे हि सच्चविया।।

(लीलावई: गाथा-सं० ६९)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि का कथन है कि उस प्रतापी राजा सातवाहन ने अपने पराक्रम से समस्त संसार को जीत लिया है, पर शत्रुओं ने उसकी पीठ उसी प्रकार नहीं देखी हैं, जिस प्रकार अपने तेज के प्रकाश से संसार को धवलित करने वाले चन्द्रमा का पृष्ठभाग किसी ने नहीं देखा है। यहाँ चन्द्रमा का पृष्ठभाग उपमान है और राजा का पृष्ठभाग उपमेय। इसी प्रकार चन्द्रमा और राजा के तेज में भी उपमानोपमेय-भाव है। इस चारुतापूर्ण उपमान और उपमेय के आयोजन द्वारा महाकवि कोऊहल ने यहाँ राजा की अतिशय पराक्रमशीलता-रूप विरस की ध्वनि का विन्यास किया है। इस उपमा अलंकार से राजा के शौर्य-रूप वस्तु की ध्वनि, अर्थात् अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण भी माना जा सकता है। इसमें वाच्यार्थ विवक्षित या वांक्षित होकर अन्यपर, अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोधक है। इसके वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ का संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार, बल्कि वह विवक्षित रहता है, इसलिए यह अभिधामूलक या विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का उदाहरण है।

'लीलावईकहा' में ध्वन्यात्मक, अलंकृत और रसमय वर्णनों का बाहुल्य है। निम्नांकित गाथा में भ्रान्तिमान अलंकार से वस्तुध्वनि की आवर्जकता द्रष्टव्य है:

घर-सिर-पसुत्त-कामिणि-कवोल-संकंत-ससि-कला-वलयं।
हंसेहि अहिलसिज्जई मुणाल-सद्धालुएहि जहिं।।

(गाथा-सं० ६०)

यहाँ रससिद्ध कवि ने भवन की छत पर सोई हुई कामिनियों का चित्रण किया है, जिनके कपोलों में प्रतिबिम्बित चन्द्रकला को मृणाल समझकर हंस उसे प्राप्त करना चाहता है यहाँ हंस को चन्द्रकला में मृणाल का भ्रम हो रहा है। अत: भ्रान्तिमान् अलंकार के माध्यम से कवि ने कामिनियों के कपोलों की सौन्दर्यातिशयता-रूप वस्तु संकेतित की है, जो अलंकार से वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

इसी क्रम में व्यतिरेक अलंकार के माध्यम से वस्तु की ध्वनि का एक और मनोहारी उदाहरण द्रष्टव्य है:

जस्स पिय-बंधवेहि व चउवयण-विणिग्गएहि वेएहि।
एक्क-वदणारविंददि्ठएहिं बहु-मण्णिओ अप्पा।।

(गाथा-सं०२१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्, बहुलादित्य के प्रिय बान्धवों ने ब्रह्मा के चारों मुखों से निकले चारों वेदों को उसके एक ही मुख में स्थित होने से अपने को कृतार्थ समझा।

यहाँ ब्रह्मा के चार मुखों से निकले चारों वेदों की बहुलादित्य के एक ही मुख में अवस्थिति-रूप व्यतिरेक अलंकार से उस वेदज्ञ की प्रकाण्ड विद्वत्ता-रूप वस्तु ध्वनित है।

ध्वनियों के संकर और संसृष्टि का भी प्राकृत-महाकाव्यों में प्राचुर्य है। जब एक ध्वनि में अन्य ध्वनियाँ नीर में क्षीर की भाँति मिल जाती हैं, तब ध्वनि-संकर होता है और जब तिल और तण्डुल की भाँति मलती हैं, तब ध्वनि-संसृष्टि होती है। ध्वनि-संसष्टि का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

अणकढिअ-दुद्ध-सुइ-जस-पयाव-घम्मट्ठिआरि-जस-कुसुम।
तुह गंठिअ-वूहेण विरोलिओ तस्स पुर-जलही।।

(कुमारवालचरियः ६.८१)

इस गाथा में दशार्णपति-विजय के बाद प्रतापी राजा कुमारपाल की सेनाओं द्वारा उसकी नगरी को लूट लिये जाने का वर्णन हुआ है।

यहाँ, (क) कीर्त्ति का अमथित दूध के समान श्वेत होना-रूप कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से राजा के निष्कलंक गुणों से मण्डित व्यक्तित्व-रूप वस्तु की ध्वनि है। गौणी लक्षणा से इसका ध्वन्यर्थ होगा कि राजा के आचार और विचार सर्वतोविशुद्ध हैं। पुनः (ख) अचेतन तेज और प्रताप की उष्णता से अचेतन कीर्त्ति-पुष्प का मुरझाना (पयाव-घम्मट्ठिआरि-जस-कुसुम) सम्भव नहीं। यहाँ मुख्यार्थ बाधित है। गौणी लक्षणा से इसका ध्वन्यर्थ होगा — कुमारपाल के रोब-रूआब के सामने दशार्ण-नरेश का रोब-रूआब बहुत घटकर है। और फिर (ग) नगर के समुद्र (पुर-जलही) होने में मुख्यार्थ की बाधा है। इसका गौणी लक्षणा से अर्थ होगा दशार्णनृपति का नगर वहाँ के अतिशय धनाढ्य नागरिकों द्वारा संचित मणि-रत्नों से परिपूर्ण है, इसलिए वह नगर रत्नाकर या समुद्र के समान है, यही ध्वनि है। चूँकि इस वर्णन में महाकवि द्वारा आयोजित सभी ध्वनियाँ स्वतंत्र हैं, इसलिए ध्वनियों की संसृष्टि हुई है।

अन्त में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि प्राकृत के महाकवियों ने अपने उत्तम महाकाव्यों में ध्वनि-तत्त्व को आग्रहपूर्वक प्रतिष्ठित किया है। इसके लिए उन्होंने जिस काव्यभाषा को अपनाया है, उसमें पदे-पदे अर्थध्वनि और भावध्वनि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का चमत्कारी विनिवेश उपलब्ध होता है। सच पूछिए तो, प्राकृत-महाकवियों की काव्यभाषा ही अपने विनियोग-वैशिष्ट्य से ध्वन्यात्मक बन गई है। चमत्कारी अर्थाभिव्यक्ति के कारण प्राकृत के प्रायः सभी महाकाव्य ध्वनिकाव्य में परिगणनीय हैं। विशेषतया 'सेतुबन्ध' और द्वयाश्रय-महाकाव्य 'कुमारवालचरिय' ध्वनितत्त्व के अनुशीलन और परिशीलन की दृष्टि से उपादेय आकर-ग्रन्थ हैं।

वस्तुतः, प्राचीन शास्त्रीय प्राकृत-महाकव्यों में प्रतिपादित ध्वनि-तत्त्व का अध्ययन एक स्वतंत्र शोध-प्रबन्ध का विषय है। इस निबन्ध में तो प्राकृत के प्रमुख शास्त्रीय महाकाव्यों में प्राप्य ध्वनि-तत्त्व की इंगिति-मात्र प्रस्तुत की गई है।

सन्दर्भ-संकेत

१. (क) अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।

— **ध्वन्यालोक**, उद्योत १, कारिका २

(ख) यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

तत्रैव, कारिका १३

२. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।
तेषु च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।। —तत्रैव

३. यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजायते। —तत्रैव
स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः।।

— **वाक्यपदीय**, प्रथम काण्ड

४. स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।।
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।।—तत्रैव

५. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्यः '**ध्वन्यालोक**' द्वितीय उद्योत तथा '**साहित्यदर्पण**', चतुर्थ परिच्छेद।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीत उपदेशपद : एक अध्ययन

डा० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'*

उपदेशपद प्राकृत भाषा का धर्मोपदेश कथा प्रधान वह महान् ग्रन्थ है, जिसका अनेक दृष्टियों से अध्ययन आवश्यक है। इसके विशद् अध्ययन के आधार पर महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध लिखे जाने योग्य है। मैंने अपने इस निबन्ध में उपदेश पद का संक्षिप्त अध्ययन कर इसमें व्यक्त आचार्य हरिभद्र के विचारों को उनके द्वारा प्रस्तुत कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

वस्तुतः प्राकृत भाषा भारत की प्राचीनतम उन भाषाओं में से एक है जिसे अनेक भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है। यह वह भाषा है, जिसके साहित्य में जीवन की समस्त भावनायें व्यंजित हुई हैं। भारतीय शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, समाज, धर्म एवं अध्यात्म आदि का यथार्थ ज्ञान-प्राप्त करने के लिए प्राकृत-साहित्य का अध्ययन बहुत आवश्यक है। प्राकृत भाषा और साहित्य तो जैन धर्म का प्राण है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने आचार, विचार, व्यवहार, सिद्धान्त एवं अध्यात्म को सरल रूप में समझाने एवं तदनुकूल जीवन ढालने की दृष्टि से प्राकृत भाषा में उपदेश प्रधान धर्मकथा विषयक साहित्य का प्रणयन किया और नैतिक उपदेश, मर्मस्पर्शी कथन एवं लोकपक्ष का उद्घाटन करते समय सरल, स्निग्ध तथा मनोरम शैली का उपयोग किया।

उपदेश प्रधान कथा-साहित्य की समृद्ध एवं गौरवपूर्ण परम्परा है। धर्मदास गणि विरचित उपदेशमाला, हरिभद्रसूरि का उपदेशपद, जयसिंहसूरि का धर्मोपदेशमाला-विवरण, जयकीर्ति का शीलोपदेशमाला, मलधारी हेमचंद्रसूरि की भवभावना तथा उपदेशमाला प्रकरण, जिनचन्द्रसूरि की संवेगरंगशाला, साहड कृत विवेकमञ्जरी, मुनिसुन्दरसूरि कृत उपदेशरत्नाकर, तथा शुभवर्धनगणि कृत वर्धमान-देशना आदि प्रमुख ग्रन्थ उपदेश प्रधान कथाओं के अनुपम संग्रह हैं।

---

* *प्रोफेसर एवं अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग, श्रमणविद्या संकाय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'उपदेशपद' के कर्त्ता आचार्य हरिभद्रसूरि

'उपदेशपद' के रचयिता आचार्य हरिभद्रसूरि बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। इन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में श्रेष्ठ साहित्य का प्रणयन किया। योग, दर्शन, अध्यात्म, आगम, सिद्धान्त, आचार, कथा और काव्य आदि विविध विधाओं में साहित्य का प्रणयन करके आपने प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के साहित्य के विकास में महनीय योगदान दिया है। ये जन्मन: अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न ब्राह्मण विद्वान् थे और चित्तौड़ के राजा जितारि के राजपूरोहित थे। बाद में प्रसंगवश जैन साध्वी याकिनी महत्तरा के उपदेश से जैनधर्म में दीक्षित हुए। इनके दीक्षागुरु जिनदत्त थे। याकिनी महत्तरा को इन्होंने अपनी धर्ममाता माना और अपने को याकिनीसूनु कहा।[१]

दीक्षा के बाद अपनी विद्वत्ता तथा विशुद्ध साधु आचार का पालन करने के कारण ये अपने आचार्य के पट्टधर आचार्य बने। इनका जीवन राजपुताना और गुजरात में विशेषरूप में व्यतीत हुआ। इनके द्वारा विरचित अधिकांश ग्रन्थों के अन्त में 'विरह' शब्द उपलब्ध होता है[२] इसलिए विरहांक पद से प्रसिद्ध है। (भवविरहं = संसारोपरममिच्छताभिलषता)

आचार्य हरिभद्र को १४४४ प्रकरणों का रचयिता माना जाता है। प्रबन्ध-कोश के कर्ता राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध-कोश में इनको १४४० प्रकरणों का रचयिता लिखा है, किन्तु इनमें से कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनकी उपलब्ध कृतियों का विवरण इस प्रकार है --

१. मूल ग्रन्थ

१. धर्मसंग्रहणी, २. पंचाशकप्रकरण, ३. पंचवस्तुकप्रकरण, ४. धर्मबिन्दुप्रकरण, ५. अष्टकप्रकरण, ६. षोडशकप्रकरण, ७. सम्बोधप्रकरण, ८. उपदेशपद, ९. षड्दर्शन–समुच्चय, १०. अनेकान्तजयपताका, १२. अनेकान्तवाद प्रवेश, १३. लोकतत्त्वनिर्णय, १४. सम्बोध-सप्तति-प्रकरण, १५. समराइच्चकहा, १६. योगविंशिका, १७. योगदृष्टिसमुच्चय, १८. योगबिन्दु।

२. टीकाग्रन्थ

१. नन्दीसूत्र, २. पाक्षिक सूत्र, ३. प्रज्ञापनासूत्र, ४. आवश्यकसूत्र, ५. दशवैकालिकसूत्र, ६. पंचसूत्र, ७. अनुयोगद्वार, ८. ललितविस्तरा, ९. तत्त्वार्थ वृत्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथा-साहित्य के अन्तर्गत आचार्य हरिभद्र ने एक ओर समराइच्चकहा जैसा बड़ा धर्मकथा-ग्रन्थ लिखा वहीं व्यंग्य प्रधान धूर्ताख्यान जैसा कथा ग्रन्थ भी लिखा। इतना ही नहीं इन्होंने जैनागम ग्रन्थों की टीकाओं में से दशवैकालिक टीका में लगभग तीस तथा उपदेशपद नामक स्वतंत्र ग्रन्थ में लगभग सत्तर प्राकृत कथायें दी हैं। वस्तुतः आगमों का टीका साहित्य कथाओं तथा दृष्टान्तों का अक्षय भण्डार है। ये टीकायें संस्कृत में होने पर भी इनका कथाभाग प्राकृत में ही उपलब्ध है।

उपदेशपद

'उपदेशपद' जैसे महान् ग्रन्थ के माध्यम से अनेक विषयों के साथ ही अनेक लघुकथायें लिखकर आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्राकृत कथा साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया है। 'उपदेशपद'[३] धर्मकथा अनुयोग के अन्तर्गत प्राकृत आर्या छन्द की १०४० गाथाओं में रचित एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु इसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है। यदि ऐसा हो जाये तो शोधकर्त्ताओं को इसके विविध प्रकार से अध्ययन में बहुत सहयोग मिलेगा।

टीका ग्रन्थ - उपदेशपद एक ऐसा लोकप्रिय एवं शिक्षाप्रद कथा ग्रन्थ है जिससे आकृष्ट होकर अनेक आचार्यों ने टीकायें लिखीं हैं।

१. सुखसम्बोधिनी टीका एवं इसके टीकाकार : उपदेशपद पर सबसे अधिक लोकप्रिय टीका तार्किक शिरोमणि आचार्य मुनिचन्द्रसूरि द्वारा लिखित सुखसम्बोधिनी टीका है।[४] १४५०० (चौदह हजार पाँच सौ) श्लोक प्रमाण[५] यह बृहद्काय टीका जैन महाराष्ट्री प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में पद्य तथा गद्य रूप में लिखी गई है जो अनेक दृष्टान्तों, आख्यानों, सुभाषितों एवं सूक्तियों से भरपूर है। इसमें अनेक सुभाषित अपभ्रंश भाषा में भी हैं। इस टीका की रचना विक्रम संवत् ११७४ में "अणहिल्ल पाटण" नामक नगर में मुनिचन्द्रसूरि ने की। इन्होंने उपदेशपद में सांकेतिक तथा पूर्णकथाओं को प्राकृत भाषा में तथा कहीं-कहीं प्राकृत शब्दों का संस्कृत अर्थ रूप में सन्दर्भ जोड़कर पर्याप्त विस्तृत किया है।

मुनिचन्द्रसूरि यशोभद्रसूरि के शिष्य तथा वादिदेवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर के कर्ता) एवं अजितदेवसूरि के गुरु थे। आनन्दसूरि तथा चन्द्रप्रभसूरि इनके गुरु भाई थे। मुनिचन्द्रसूरि उच्चकोटि के विद्वान् थे। उपदेशपद पर सुखसम्बोधिनी टीका के अतिरिक्त इन्होंने अनेक मौलिक एवं टीका ग्रन्थों की रचना की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोटे–बड़े कुल मिलाकर इन्होंने ३१ ग्रन्थ लिखा।[६] **मौलिक ग्रन्थों** में प्रमुख हैं-- अंगुल–सप्तति, वनस्पति सप्तति, आवश्यक सप्तति, गाथाकोश, उपदेशामृत-कुलक, हितोपदेश–कुलक, सम्यक्त्वोत्पादविधि, तीर्थमालास्तव आदि।

टीका ग्रन्थों में प्रमुख हैं— ललितविस्तरापंजिका, अनेकान्तजयपताका टीप्यनकम्, धर्म–बिन्दुविवृत्ति, योगबिन्दुविवृत्ति, कर्मप्रकृतिं विशेषवृत्ति, सार्धशतकचूर्णि एवं उपदेशपद–सुखसम्बोधिनी वृत्ति। उपदेशपद पर इस वृत्ति को लिखने में लेखक के शिष्य रामचंद्र गणि ने भी सहायता की।[७]

२. मुनिचन्द्रसूरि की उपर्युक्त टीका के प्रारम्भिक भाग से ज्ञात होता है कि उपदेशपद पर सर्वप्रथम पूर्वाचार्य द्वारा लिखित कोई गहन टीका थी, किन्तु काल प्रभाव से अल्पबुद्धि वाले स्पष्ट समझने में समर्थ नहीं थे अत: सुखसम्बोधिनी नामक इस सरल वृत्ति को बनाने का प्रयत्न किया गया।[८]

३. वर्धमानसूरि ने वि० सं० १०५५ में उपदेश पद पर एक टीका लिखी है। इसकी प्रशस्ति पार्श्विलगणि ने रची है। इस समग्र टीका का प्रथमादर्श आर्यदेव ने तैयार किया था। 'वन्दे देवनरेन्द्र' – से प्रारम्भ होने वाली इस टीका का परिमाण ६४१३ श्लोक है।[९]

४. 'उपदेशपद' पर एक अज्ञातकर्तृक टीका भी है।[१०]

'उपदेशपद' का वैशिष्ट्य

हरिभद्रसूरि ने 'उपदेशपद' ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण पूर्वक करते हुए भगवान् महावीर को नमन किया है तथा उनके उपदेश के अनुसार मन्दमति लोगों के प्रबोधन हेतु कुछ उपदेश पदों को कहने की प्रतिज्ञा की है—

नमिऊण महाभागं तिलोगनाहं जिणं महावीरं ।
लोयालोय-मियंकं सिद्धं सिद्धोवदेसत्थं ।।१।।

वोच्छं उवएसपए कहइ अहं तदुवदेसओ सुहुमे ।
भावत्थसारजुत्ते मंदमइविबोहणट्ठाए ।।२।।

इसी तरह ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ का स्वकर्तृत्व सूचित किया है—

लेसुवएसेणेते उवएसपया इहं समक्खाया ।
समयादुद्धरिऊणं मंदमतिविबोहणट्ठाए ।।१०३८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाइणिमयहरियाए रइता एते उ धम्मपुत्तेण।
हरिभद्दायरिएणं भवविरहं इच्छमाणेणं।।१०३९।।

उपदेशपद वृत्ति के रचयिता मुनिचन्द्रसूरि ने भी मंगलाचरण पूर्वक 'उपदेश पदों' का दो प्रकार से अर्थ करते हुए कहा है कि सकल पुरुषार्थों में प्रधान मोक्ष ही है अत : मोक्ष पुरुषार्थ विषयक उपदेशों के पद अर्थात् मनुष्य जन्म दुर्लभत्व आदि स्थानभूत शिक्षाविशेष पदों का इसमें प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय अर्थ के अनुसार 'उपदेश' और 'पद' दोनों में कर्मधारय समास करने पर उपदेशों को ही पद माना गया है। तदनुसार मनुष्य-जन्म की दुर्लभता आदि अनेक कल्याणजनक विषयों की इस ग्रन्थ में चर्चा की गई है जो उपदेशात्मक वचन रूप है।[११]

हरिभद्रसूरि ने मंगलाचरण आदि के बाद सभी उपदेश पदों में प्रधान उपदेशपद का उल्लेख करते हुए कहा है--

लद्धूण माणुसत्तं कहंचि अइदुल्लहं भवसमुद्दे ।
सम्मं निउंजियव्वं कुसलेहिं सयावि धम्मम्मि ।।३।।

अर्थात् इस संसार समुद्र में जिस किसी प्रकार से अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर आत्महितैषी जनों को सद् सम्यक् धर्म में कुशलतापूर्वक मन-वचन और शरीर को लगाकर उसका सदुपयोग करना चाहिए।

मनुष्य जन्म की दुर्लभता के सम्बन्ध में निम्नलिखित दस दृष्टान्त दिये हैं—

१. चोल्लक, २. पाशक, ३. धान्य, ४. द्यूत, ५. रत्न, ६. स्वप्न, ७. चक्र, ८. चर्म, ९. युग (युप) और १०. परमाणु।[१२]

इन दस दृष्टान्तों द्वारा मनुष्य जन्म की दुर्लभता को अलग-अलग कथानकों द्वारा प्रस्तुत किया है जिसका विवेचन गाथा सं० ४ से १९ तक की गाथाओं में किया है तथा टीकाकार मुनिचन्द्र ने प्राकृत कथाओं के रूप में इन दृष्टान्तों को पद्य रूप में विस्तार दिया है।

१. इन दस दृष्टान्तों में "चोल्लक" नामक प्रथम दृष्टान्त को टीकाकार ने ५०५ गाथाओं में प्रस्तुत करते हुए कहा है— जिस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के यहां एक बार भोजन करके पुनः भोजन करना दुर्लभ हुआ, उसी प्रकार एक बार मनुष्य जन्म पाकर उसे पुनः पाना बड़ा ही दुर्लभ है।[१३] यहां "चोल्लक" शब्द देशी है जिसका अर्थ है— 'भोजन'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. पाशक दृष्टान्त[१४] में कहा है कि— नन्दवंश का उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त को पाटलीपुत्र का राज्य किस प्रकार प्राप्त हो, यह चाणक्य सोचने लगा। उसने अर्थसंग्रह के लिए एक यन्त्रपाश बनाया और किसी देव की कृपा से उसके पाशे प्राप्त किये। उसने पाशे को नगर के तिमुहानी और चौमुहानी आदि प्रमुख रास्तों पर रखवा दिया। चाणक्य ने उस द्यूतपाश के पास एक दीनार भरी थाली भी रखवा दी और यह कहा गया कि जो कोई जुए में जीत जायेगा, उसे दीनार भरी थाली दी जायेगी और जो हार जायेगा वह एक दीनार देगा। इस देव निर्मित पाशे के द्वारा किसी का भी जीतना संभव नहीं था, सभी हारते जाते और एक-एक दीनार देते जाते। इस प्रकार चाणक्य ने बहुत-सा धन अर्जित कर लिया।

३. धान्य का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुये कहा है कि यदि समस्त भरतक्षेत्र के धान्यों को मिलाकर उनमें एक प्रस्थ सरसों मिला दी जाए और किसी कमजोर एवं रोगी वृद्धा स्त्री से उस समस्त धान्य में से एक प्रस्थ सरसों अलग करने को कहा जाये तो जैसे- समस्त धान्य में से थोड़ी सी सरसों को पृथक् करना अत्यन्त दुर्लभ है उसी प्रकार अनेक योनियों में भटक रहे जीव को मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है।[१५]

४. रत्न का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि- जैसे- समुद्र में किसी जहाज के नष्ट हो जाने पर खोये हुए रत्न की प्राप्ति दुर्लभ है वैसे ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है।[१६]

इसके बाद सूत्रदान के अन्तर्गत ९७ गाथाओं में नन्दसुन्दरी की कथा प्रस्तुत की है और विनय सूत्रदान में गुरु के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुये कहा है कि— गुरु को सूत्र का दान योग्यपात्रों को विधिपूर्वक ही करना चाहिए। क्योंकि सिद्धाचार्यों द्वारा सूत्रानुसार सूत्रदान करना निश्चय ही योग्य कार्य है। आसन्न भव्य जीवों की पहचान भी सूत्रों के अनुसार होती है। अत: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार उचित प्रवृत्ति जिनेन्द्रदेव के शासन में सर्वत्र ही गौरव (बहुमान) प्राप्त कराती है तथा इसके विपरीत आचरण से स्व-पर का विनाश और आज्ञाकोप आदि दोषों का सेवन होता है। अत: अति निपुणबुद्धि से सम्यक् प्रवृत्ति करनी चाहिए।[१७]

बुद्धि के भेद

आचार्य हरिभद्र ने उपदेशपद में बुद्धि के चार भेद बतलाये हैं[१८]—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. औत्पत्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कर्मजा तथा ४. पारिणामिकी।—

१. **औत्पत्तिकी बुद्धि**— इस बुद्धि की उत्पत्ति में क्षयोपशम कारण होता है।

२. **वैनयिकी बुद्धि**— विनय अर्थात् गुरु शुश्रूषा आदि ही प्रधान कारण जिसमें होता है, वह वैनयिकी बुद्धि है।

३. **कर्मजा बुद्धि**— कर्म रूप नित्य व्यापार से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह कर्मजा बुद्धि है।

४. **पारिणामिकी बुद्धि**— सुदीर्घकाल तक पूर्वापर तत्त्व-अवलोकन आदि से उत्पन्न आत्मधर्म जिसमें प्रधान कारण होता है, उसे पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं।

—बुद्धि के उपर्युक्त चार भेदों को अनेक पदों द्वारा अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया गया है।

प्रथम औत्पत्तिकी बुद्धि के विषय में सत्रह उदाहरण (पद) प्रस्तुत किये हैं— १. भरतशिला, २. पणित, ३. वृत्त, ४. मुद्रारत्न, ५. पट, ६. सरड, ७. काक, ८. उच्चार, ९. गज (गोल खम्भे), १०. भाण्ड (घयण), ११. गोल, १२. स्तम्भ, १३. क्षुल्लक, १४. मार्ग, १५, स्त्री, १६. द्रौपती तथा १७. पुत्र।[१९]

उपर्युक्त दृष्टान्तों में से रोहक कुमार के ये तेरह दृष्टान्त नन्दीसूत्र में बतलाये हैं[२०]— भरहसिल, मिंट, कुक्कुड, तिल, बालुण, हत्थि, अगड, वणसंडे, पासय, अइआ, पत्ते, खाडहिला तथा पंचपियरो। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इन सभी आख्यानों का स्रोत नन्दीसूत्र है। भाव तथा भाषा की दृष्टि से यह भी ज्ञात होता है कि वैनयिकी तथा पारिणामिकी बुद्धि के लक्षण एवं उदाहरण भी नन्दीसूत्र से ग्रहण किये हैं।

भरतशिला नामक पद में रोहक कुमार का उदाहरण दिया है कि उज्जैन के राजा जितशत्रु प्रत्युत्पन्नमति रोहक की अनेक प्रकार से बुद्धि की परीक्षा लेते हैं और अन्त में उसे अपना प्रधानमंत्री बना लेते हैं।[२१] इस कथा में रोहक की बुद्धि का चमत्कार विभिन्न रूपों में वर्णित है।

"स्त्री-व्यन्तरी" के विषय में कारणिक— नामक कथा में कहा है कि एक युवा पुरुष गाड़ी पर अपनी पत्नी को लेकर कहीं जा रहा था। रास्ते में पत्नी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्यास लगी अतः पानी पीने के लिए वह गाड़ी से उतरकर गयी। इतने में एक व्यंतरी ने उस पुरुष को देखा और उस पर मुग्ध हो गई। वह व्यन्तरी उस युवा की पत्नी का रूप बनाकर गाड़ी में आकर बैठ गयी। युवक ने उसे अपनी पत्नी समझा और गाड़ी आगे बढ़ा दी। पत्नी पानी पीकर लौटी और देखा कि गाड़ी तो आगे बढ़ गई है तो वह रोने लगी। उसने चिल्लाकर अनेक प्रकार से अपने पति को गाड़ी रोकने के लिए आवाज लगायी। युवक ने गाड़ी रोकी और इन दोनों स्त्रियों की समान आकृति देखकर उसे महान् आश्चर्य हुआ।[२१]

औत्पत्तिकी बुद्धि के अन्तर्गत पहेलियों और प्रश्नोत्तरों के रूप में विविध प्रकार के मनोरंजक आख्यान प्रस्तुत किये गये हैं जो भारतीय कथा-साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके अन्तर्गत कुछ मनोरंजक आख्यान इस प्रकार हैं— किसी रक्तपट (बौद्ध भिक्षु) ने एक क्षल्लुक से पूछा— इस विन्नातट (वेन्यातट) नगर में कितने कौवे हैं? क्षुल्लक ने उत्तर दिया— साठ हजार कौवे हैं। तब भिक्षु ने पुनः प्रश्न किया— यदि साठ हजार से कम या ज्यादा हुए तब? क्षुल्लक ने तुरन्त उत्तर दिया— यदि कम हुए तब यह समझना चाहिए कि कुछ कौवे विदेश चले गये और यदि अधिक हैं तब समझना चाहिए कि बाहर से कुछ और कौवे अतिथि के रूप में आ गये हैं।-- ऐसा उत्तर सुनकर शाक्यपुत्र भिक्षु निरुत्तर हो गया।[२३]

इस प्रकार एक बार किसी शाक्य भिक्षु ने एक गिरगिट को अपना सिर धुनते हुए देखा। एक क्षल्लुक[२४] से वह उपहासपूर्वक बोला— तुम तो सर्वज्ञ पुत्र हो, अतः यह बतलाओ कि यह गिरगिट अपना सिर क्यों धुन रहा है? उस क्षुल्लक ने तुरन्त उत्तर दिया— शाक्यव्रती! तुम्हें देखकर चिन्ता से आकुल हो यह ऊपर-नीचे देख रहा है। तुम्हारी दाढ़ी-मूंछ देखकर इसे लगता है कि तुम भिक्षु हो, लेकिन जब वह तुम्हारे लम्बे चीवर को देखता है तो तुम इसे भिक्षुणी नजर आते हो। यही कराण है कि यह गिरगिट अपना सिर धुन रहा है। यह सुनकर बेचारा भिक्षु निरुत्तर रह गया।

उपदेशपद में इसी तरह के और भी मनोरंजक आख्यान दिये गये हैं। 'कच्छप का लक्ष्य'[२५] तथा 'युवकों से प्रेम'[२६] नामक कथायें व्यंग्य प्रधान हैं।

विविध आख्यानों के माध्यम से हरिभद्रसूरि ने औत्पत्तिकी आदि चारों प्रकार की बुद्धि की विशेषतायें प्रगट की हैं। बिना देखे, बिना सुने और बिना जाने विषयों को उसी क्षण में अबाधित रूप से ग्रहण करना तथा तत्सम्बन्धी चमत्कारों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को कथाओं द्वारा दिखलाना ही इन कथाओं का उद्देश्य है।

संख्या तथा मार्मिकता की दृष्टि से हरिभद्र की लघु कथाओं में बुद्धि चमत्कार-प्रधान कथाओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस श्रेणी की कथाओं का शिल्प विधान नाटकीय तत्त्वों से सम्पृक्त रहता है। इतिवृत्त, चरित्र आदि के रहने पर भी प्रधानतः बुद्धि चमत्कार ही व्यक्त होता है।[२७]

औत्पत्तिकी बुद्धि के 'गोल' पद के अन्तर्गत कहा है कि किसी बालक की नाक में खेलते-खेलते लाख की एक गोली चली गई। जब बालक के पिता को पता लगा तो उसने एक सुनार को बुलाया। सुनार ने सावधानी पूर्वक लोहे की गरम सलाई नाक में डालकर गोली तोड़ दी, फिर धीरे से सलाई निकाली और पानी में डालकर ठंडी कर दी। पुनः उस ठंडी सलाई से नाक के अन्दर की गोली बाहर निकाल दी और वह बालक स्वस्थ हो गया।[२८]

वैनयिकी बुद्धि के अन्तर्गत निमित्त विद्या, अर्थशास्त्र, चित्रकला, लेखन, गणित, अश्व, कूप, गर्दभ, अगद (विष) परीक्षा, गणिका, तथा अंक एवं लिपि ज्ञान से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कथानकों सहित दी गई हैं।[२९] उपदेशपदवृत्ति में अट्ठारह प्रकार की लिपियों का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन लिपियों के नाम इस प्रकार हैं— हंसलिपि, भूतलिपि, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, फुडुक्की, कीडी, दविडी, सिंघविया, मालविणी, नटी, नागरी, लाटलिपि, पारसी, अनिमित्ता, चाणक्यी और मूलदेवी।[३०]

खेल-खेल में लिपि विद्या सिखाने के विषय में एक आख्यान है कि किसी राजा ने अपने पुत्र को लिपि सिखाने के लिए किसी उपाध्याय के साथ रखा। किन्तु अनुशासनहीनता वश वह लिपि सीखने में उत्साहित नहीं था और वह बालक खेल में ही मस्त रहता। उपाध्याय भी सिखाने में लापरवाही करते। किन्तु बाद में राजा के भय से उपाध्याय ने खड़िया, मिट्टी तथा उसकी गोलियों के माध्यम से खेल-खेल में भूमि, पत्थर आदि पर लिख-लिखकर और खड़िया मिट्टी से अक्षरों के आकार बनाकर उसे सिखाया। इससे वह शीघ्र ही लिपि विद्या सीख गया।[३१]

'शत्रुता' शीर्षक कथा में वररुचि और शकटाल इन दोनों बुद्धिजीवियों की शत्रुता का अंकन किया गया है। वररुचि ने अपनी चालाकी द्वारा शकटाल को मरवा दिया। शकटाल के पुत्र क्षेपक ने वररुचि से बदला चुकाया। कथा में आद्यन्त दांव-पेंच का व्यापार निहित है।[३२]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मजा बुद्धि के अन्तर्गत भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसी में तन्तुवाय, रथकार, कान्दविक, कुम्भकार, चित्रकार, मृतपिण्ड चित्रादि ज्ञान सम्बन्धी विवरण हैं।[३३]

पारिणामिकी बुद्धि के आख्यानों में अभयकुमार, काष्ठक श्रेष्ठि, श्रेणिक राजसुत नन्दिषेण, चिलातीपुत्र, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्थूलिभद्र आचार्य, वज्रस्वामि, गौतमस्वामी, चण्डकौशिक, नारद-पर्वत आदि के आख्यान तथा नारी चरित्रों में रति सुन्दरी (गाथा ६९७), बुद्धिसुन्दरी (गाथा ७०३), गुणसुन्दरी (गाथा-७१३), ऋद्धिसुन्दरी (गाथा ७०८), नृपपत्नी (गाथा ८९१) तथा देवदत्ता आदि के आख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।[३४]

इसी के अन्तर्गत 'नन्द की उलझन' कथा का आरम्भ विलास से और अन्त त्याग से होता है। आदि से अन्त तक कार्य-व्यापारों का तनाव है। नन्द साधु हो जाने पर भी अपनी पत्नी सुन्दरी का ही ध्यान किया करता है। रोमान्स उसके जीवन में घुला-मिला है। नन्द का भाई अपने कई चमत्कारपूर्ण कार्यों के द्वारा नन्द को सुन्दरी से विरक्त करता है।[३५]

यहाँ आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ति के आख्यान भी दिये गये हैं।[३६] गजाग्रपुर तीर्थ में महागिरि ने पादोपगमन धारण कर मृत्यु प्राप्त की थी। गोविन्द्र वाचक के दृष्टान्त में कहा गया है कि गोविन्द्र वाचक बौद्ध धर्मानुयायी महावादी थे और श्रीगुप्तसूरि से शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये जैन धर्म में दीक्षित हुए थे।[३७] धर्मबीज की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जैन शासन में श्रद्धा प्रधान दया-दान आदि अनवद्य भाव ही धर्मबीज हैं।[३८] स्थविरकल्प में करणीय कार्य,[३९] वैयावृत्य का स्वरूप, सम्यग्दर्शन की निर्मलता आदि विषयों का सम्यक् प्रतिपादन है।[४०] आगे अध्यात्म की प्रधानता के विषय में कहा है कि अध्यात्म ही मूलबद्ध अनुष्ठान है। इसके विपरीत सब कुछ शरीर में लगे हुए मैल की तरह असार है। जैनेतर शास्त्रों में भी अध्यात्म की प्रधानता वर्णित है।[४१]

चैत्यद्रव्य के उपयोग की विविध प्रकार से निन्दा करते हुए चैत्यद्रव्य के उपयोग से सकांश श्रावक का आख्यान दिया गया है जो अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक दुःख भोगता है। उपदेशपद में देवद्रव्य का स्वरूप तथा उसके रक्षण के फल का अच्छा प्रतिपादन है।[४२] सम्यग्ज्ञान का स्वरूप और फल, अभिग्रह, कर्मबन्ध के हेतु, गुणस्थान, अणुव्रत, महाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, गुरुकुलवास से ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति, स्वाध्याय, यत्नाचार, उत्सर्ग-अपवाद लक्षण से भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नयों द्वारा अभिमत तात्त्विक स्वरूप, दुषमाकाल में चरित्र की स्थिति आदि विषयों का प्रतिपादन विभिन्न आख्यानों द्वारा विस्तृत रूप में किया गया है।

धर्माचरण का निरतिचार पालन करने से श्रेय पद की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में आचार्य हरभिद्र ने शंख कलावती का बड़ा आख्यान दिया है। टीकाकार ने इस आख्यान का ४५१ आर्या छन्दों में विस्तार किया है।[४३] इसी प्रसंग में शक्कर और आटे से भरे हुए बर्तन के उलट जाने, खांड मिश्रित सत्तू और घी की कुण्डी उलट जाने एवं उफान से निकले हुए दूध के हाथ पर गिर जाने से किंसी सज्जन पुरुष के कुटुम्ब की दयनीय स्थिति का बड़ा ही सजीव चित्रण वृत्तिकार ने किया है।

धर्म, सुख, पाण्डित्य आदि का प्रश्नोत्तर रूप में स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि—. धर्म क्या है? उत्तर–जीव दया। सुख क्या है?— उत्तर–आरोग्य। स्नेह क्या है?— उत्तर–सद्भाव। पाण्डित्य क्या है? उत्तर–हिताहित का विवेक। विषम क्या है? उत्तर–कार्य की गति। प्राप्त करने योग्य क्या है? उत्तर—मनुष्य द्वारा गुण ग्रहण। सुख से प्राप्त करने योग्य क्या है? उत्तर–सज्जन पुरुष तथा कठिनता से प्राप्त करने योग्य क्या है? उत्तर— दुर्जन पुरुष।[४४]

आगे अनेक विषयों को सोदाहरण प्रस्तुत करते हुए धर्मरत्न प्राप्ति की योग्यता को समझाया गया है।[४५] विषयाभ्यास में शुक और भावाभ्यास में नरसुन्दर,[४६] की तथा शुद्धयोग में दुर्गत नारी और शुद्धानुष्ठान में रत्नाशिख की कथा दी है।[४७]

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि शाश्वत सुख चाहने वाले पुरुष को कल्याणमित्र–योगादि रूप विशुद्ध योगों में धर्म सिद्ध करने का सम्यक् प्रयास करना चाहिए।[४८]

धर्मकथा प्रधान इस उपदेशपद की लघुकथाओं का विभाजन निम्नलिखित वर्गों में किया जा सकता है—[४९]

१. कार्य एवं घटना प्रधान कथाएं

१. इन्द्रदत्त (गाथा १२), २. धूर्तराज (गाथा ८६), ३. शत्रुता (गाथा ११७)

२. चरित्र प्रधान कथाएं

१. मूलदेव (गाथा ११), २. विनय (गाथा २०), ३. शीलवती (गाथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३०-३४), ४. रामकथा (गाथा ११४), ५. वज्रस्वामी (गाथा १४६), ६. गौतम स्वामी (गाथा १४२), ७. आर्य महागिरि (गाथा २०३-२११), ८. आर्य सुहस्ति (गाथा २०३-२११), ९. विचित्र कर्मोदय (गाथा २०३-२११), १०. भीमकुमार (गाथा २४५-२५०), ११. रुद्र (गाथा ३९५-४०२), १२. श्रावक पुत्र (गाथा ५०६-५१०), १३. पाखण्डी (गाथा २५७), १४. कुरुचन्द्र (गाथा ९५२-९६९), १५. शंख नृपति (गाथा ७३६-७६२) १६. ऋद्धि सुन्दरी (गाथा ७०८) १७. रति-सुन्दरी (गाथा ७०३), १८. गुण सुन्दरी (७१३), १९. नृप पत्नी (गाथा ८६१-८६८)।

३. भावना और वृत्तिप्रधान कथायें

१. गालव (गाथा ३७८-३८२), २. मेघकुमार (गाथा २६४-३७२), ३. तोते की पूजा (गाथा ९७५-९९६), ४. वृद्धा नारी (गाथा १०२०-१०३०)

४. व्यंग्य प्रधान कथायें

१. कच्छप का लक्ष्य (गाथा १३), २. युवकों से प्रेम (गाथा ११३)

५. बुद्धि चमत्कार प्रधान कथायें

१. चतुर रोहक (गाथा ५२-७४), २. पथिक के फल (गाथा ८१), ३. अभयकुमार (गाथा ८२), ४. चतुरवैद्य (गाथा ८०), ५. हाथी की तौल (गाथा ८७), ६. मंत्री की नियुक्ति (गाथा ९०), ७. व्यंतरी (९४), ८. कल्पक की चतुराई (१०८), ९. मृगावती कौशल (गाथा १०८)।

६. प्रतीक प्रधान कथायें

१. धन्य की पुत्र वधुयें (गाथा १७२-१७९)

७. मनोरंजन प्रधान कथायें

१. जामाता परीक्षा (गाथा १४३), २. राजा का न्याय (गाथा १२०), ३. विषयी सुख (पृ० ३९८)

८. नीति या उपदेशप्रधान कथायें

१. सवलित रत्न (गाथा १०), २. सोमा (५५०-५९७), ३. वरदत्त (६०५-६६३), ४. गोवर (५५०-५९७), ५. सत्संगति (६०८-६६३), ६. कलि (८६७), ७. कुन्तलदेवी (४९७), ८. सूरतेज (१०१३-१०१७),

९. प्रभाव प्रधान कथायें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. ब्रह्मदत्त (गाथा ६), २. पुण्यकृत्य की प्राप्ति (८), ३. प्रभाकर–चित्रकार (३६२–३६६), ४. कामासक्ति (१४७), ५. माषतुष (१९३)

हम देखते हैं कि 'उपदेशपद' एक अनुपम ग्रन्थ है जिसमें कथानकों के माध्यम से सदाचार की प्रेरणा दी गई है। वस्तुतः कथायें जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने में समेटे हुए सहजता के साथ मनोरंजन करती हुई अपूर्व प्रेरणायें प्रदान करती हैं। सैंकड़ों प्रकार के सिद्धान्त जहां कार्यकारी नहीं होते वहां प्रभावपूर्ण कथा या दृष्टान्त व्यक्ति को मार्ग पर लाने के लिए हृदय परिवर्तन में अधिक सहकारी बनते हैं। क्योंकि ऐसी कथाओं में कोई न कोई गहरी संवेदना अवश्य रहती है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इन कथाओं के विषय में लिखा है कि हरिभद्र की कार्य और घटना प्रधान कथाओं में घटनाओं के चमत्कार के साथ पात्रों के कार्यों की विशेषता, आकर्षण और तनाव आदि भी हैं। यों तो ये कथायें कथारस के उद्देश्य से नहीं लिखी गयीं हैं। लेखक विषय का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण करना चाहता है अथवा उपदेश को हृदयंगम कराने के लिए कोई उदाहरण उपस्थित करता है, तो भी कथातत्त्व का समीचीन सन्निवेश है।[५०] इन लघु कथाओं में जीवन–निर्माण, मनोरंजन, मानसिक क्षुधा की तृप्ति, जीवन और जागतिक सम्बन्धों के विश्लेषण एवं चिरन्तन और युग सत्यों के उद्घाटन की सामग्री प्रचुर रूप में वर्तमान है तथा सामान्य रूप से ये सभी कथायें, दृष्टान्त या उपदेश–कथायें ही हैं।[५१]

इस प्रकार उपदेश पद में व्यक्त हरिभद्रसूरि के चिन्तन के महत्त्व को देखते हुए उसके सांगोपांग एवं तुलनात्मक अध्ययन की आज के सन्दर्भ में बहुत आवश्यकता है ताकि उनके विराट व्यक्तित्व और चिन्तन का लाभ सर्वसाधारण को उपलब्ध हो सके।

सन्दर्भ

१. जाइणिमयहरियाए रइता एते उ धम्मपुत्तेणं ।
हरिभद्दायरिएणं भवविरहं इच्छमाणेणं ॥ **उपदेशपद १०४०**

२. (क) तम्हा करेह सम्मं जह विरहो होइ कम्माणं । **पंचाशक ९४०**
(ख) दुक्ख विरहाय भव्वा लभंतु जिण धम्म संबोधि । **धर्मसंग्रहणी १३९६**

३. **उपदेशपद** (उवएसपय) नामक मूल ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९२८ में श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम से **पंचाशक, धर्मसंग्रहणी** आदि आठ ग्रन्थों के साथ प्रकाशित हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. **''उपदेशपद महाग्रन्थ''** नाम से दो भागों में श्रीमन्मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ोदरा से क्रमश: १९२३ एवं १९२५ में प्रकाशित।
५. ग्रन्थाग्र १४५०० सूत्र संयुक्तोपदेशपदवृत्ति श्लोकमानेन प्रत्यक्षरगणनया- **उपदेशपदवृत्ति** की प्रशस्ति का अन्तिम वाक्य, पृ० ४३४
६. **उपदेशपदवृत्ति** द्वितीयो भाग: - आद्य वक्तव्य (भूमिका), पृ० ६-७
७. साहाय्यमत्र परमं कृतं विनेयेन रामचन्द्रेण ।
गणिना, लेखंशोधनादिकं शेषशिष्यैश्च ॥ **उपदेशपदवृत्ति** अन्तिम प्रशत्ति ८, पृ० ४३४
८. पूर्वैर्यद्यपि कल्पितेह गहना वृत्तिः.... यत्नो पमास्थीयते।
उपदेशपदवृत्ति (प्रारम्भिक),
९. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,** भाग-४, पृ० १९५,
१०. वही, पृ० १९५.
११. **उपदेशपद** गाथा १-२ की वृत्ति, पृ० २,
१२. अइदुल्लहं च एयं चोल्लगपमुहेहिं अत्थ समयम्मि ।
भणियं दिट्ठंतेहिं अहमवि ते संपवक्खामि ॥ **उपदेशपद** ४ ॥
चोल्लग पासग धण्णे-जूए रयणे य सुमिण चक्के य ।
चम्मजुगे परमाणु-दस दिट्ठंता मणुयलंभे ॥ **उपदेशपद** ५ ॥
१३. **उपदेशपद** गाथा ६,
१४. **उपदेशपद** गाथा ७, पृ० २१,
१५. धण्णेत्ति भरहधण्णे सिद्धत्थगपत्थखेव थेरीए।
अवगिंचण मेलणओ एमेव ठिओ मणुयलाभो ॥ **उपदेशपद** ८
१६. रयणेत्ति भिन्नपोयस्स तेसि नासो समुद्दमज्झंमि ।
अण्णे संणंभि भणियं तल्लाहसमं खु मणुयत्तं ॥१०॥
१७. **उपदेशपद** ३०-३६
१८. उप्पत्तिय वेणइया कम्मय तह पारिणामिया चेव ।
बुद्धि चउव्विहा खलु निद्दिट्ठा समयकेऊहिं ॥ **उपदेशपद** - ३८
१९. भरहसिल-पणिय-रुक्खे खुड्डग-पडसरड-काय उच्चारे ।
गय-घयण-गोल-खंभे खुड्डग-मग्गित्थि-पइपुत्ते ॥ **उपदेशपद** - ४०
२०. **नन्दीसूत्र** गाथा - ७०-७२,
२१. **उपदेशपद** गाथा - ५२-७९,
२२. इत्थी वंतरि सच्चित्थितुल्ल तीयादि कहण ववहारे ।
हत्थाविसए ठावण गह दीहागरिसणे णाणं ॥ **उपदेशपद** -९३
२३. कागे संखे वंचिय विण्णायड सट्ठिऊण पवासाई ।
अण्णे घरिणि पारिच्छा णिहि फुट्टे रायऽणुण्णाओ ॥ —**उपदेशपद** -८५
२४. **उपदेशपद वृत्ति** ८४, पृ० ६१,
२५. **उपदेशपद गाथा** १३, पृ० २१,
२६. वही - गाथा ११३, पृ० ८४,
२७. **हरिभद्र का प्राकृत कथा साहित्य,** डा० नेमिचंद्र शास्त्री, पृ० १८२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२८. गोलग जबमयणक्के पवेसणं दूरगमण दुक्खंमि ।
तत्तसलागा खोहो सीयलगाढत्ति कङ्कणया।। उपदेशपद- ८९

२९. **उपदेशपद** गाथा – १०७–१२०,

३०. हंसलिवी भूयलिवी जक्खी तरु रक्खसी य बोद्धव्वा ।
उड्डी जवणि फुडुक्की कीडी दविडी य सिंधविया ॥
मालविणी नडि नागरि लाडलिवी पारसी य बोद्धव्वा ।
तह अनिमित्ता णेया चाणक्की मूलदेवी य ॥ **उपदेशपद वृत्ति** गाथा – १०९। १–२, पृ० ८१

३१. लेहे लिवीविहाणं वट्टक्खेड्डेणमक्खरालिहणं ।
पिट्ठिम्मि लिहियवायणमक्खरविंदाइ सुयणाणं ॥ **उपदेशपद** १०९

३२. **उपदेशपद** – गाथा ११७, पृ० ८६ (हरि० का प्रा० कथा साहित्य, पृ० १७७)

३३. **उपदेशपद** – गाथा १२२–१२७

३४. **वही** – गाथा १२८–१७०,

३५. **उपदेशपद** गाथा १३९, पृ० १०९ (हरि० का प्रा० कथा साहित्य, पृ० १७७)

३६. **उपदेशपद** गाथा २०२–२११

३७. **वही** गाथा २५८, पृ० १८०

३८. **वही** गाथा २२४, २३१–२३४

३९. **वही** गाथा २२३

४०. **वही** गाथा ३३५–३६०

४१. अज्झप्पमूलबद्धं इत्तोऽणुट्ठाणमो सयं विंति ।
तुच्छमतुल्लमएणं अण्णेऽबज्झप्प सत्थण्णू ॥ **वही**, ३६८,

४२. **उपदेशपद** गाथा – ४०३–४२०,

४३. **वही** गाथा ७३६–७६८,

४४. को धम्मो जीवदया, किं सोक्खमरोग्गया उ जीवस्स ।
को णेहो सब्भावो, किं पंडिच्चं? परिच्छेओ ॥
किं विसमं? कजगती, किं लद्धव्वं? जणो गुणग्गाही ।
किं सुहगेज्झं? सुयणो, किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥ **उपदेशपद** गाथा ५९८–५९९

४५. **वही** गाथा ९११–९१९

४६. **वही** गाथा ९८८–९९४

४७. **वही** गाथा १०१८–१०३१

४८. **वही** गाथा १०३२–१०३३

४९. **प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** —डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० २७६–२७९,

५०. **हरिभद्र का प्राकृत कथा साहित्य**, पृ० १७७

५१. वही, पृ० १८६

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन 'हिन्दू' ही हैं, लेकिन किस अर्थ में?

विनायक दामोदर सावरकर

हिन्दू धर्म के कतिपय कर्मकांडों के विरुद्ध जन्में नए धर्मों को लेकर अक्सर एक ऊहापोह की स्थिति रही हैं। बल्कि कई बार तो ऐसी स्थितियाँ गढ़ी जाती हैं कि जो लोग इस विषय पर अपना स्वतन्त्र और सुरक्षित मत रखते हैं उन्हें भी, वे हिन्दू हैं या हिन्दू धर्म का एक हिस्सा हैं, इस पर सोचने को विवश कर दिया जाता है जिससे मनोमालिन्य उद्भूत होता है। इस वजह से देश में अप्रिय विवाद भी पैदा होते रहे हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा हाल ही में हिन्दुत्व पर बनाई गई फिल्म में सिक्ख धर्म को हिन्दू समुदाय का अंग बनाए जाने को लेकर उपजा विवाद इसका सबसे ताजा उदाहरण है। लेकिन उत्तर प्रदेश के एटा जिले के एक स्कूल से सम्बन्धित मामले में शीर्ष अदालत ने यह साफ कर दिया है कि जैन समुदाय हिन्दू धर्म का हिस्सा नहीं है। माननीय सुप्रीमकोर्ट के न्यायमूर्ति श्री एस० बी० सिन्हा और न्यायमूर्ति श्री दलबीर भंडारी की दो सदस्यीय खण्डपीठ ने एटा जिले के कन्या जूनियर हाईस्कूल बालविद्या मंदिर के एक शिक्षक की सेवायें समाप्त करने से सम्बन्धित मामले में अपने ४५ पृष्ठ के फैसले में यह व्यवस्था दी कि एक धर्म विशेष के सदस्य द्वारा संस्था के संचालन मात्र से उसे अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा संचालित संस्था नहीं माना जा सकता। अदालत ने इसके पक्ष में संविधान निर्माताओं द्वारा इसे एक अलग धार्मिक इकाई के रूप में मान्यता दिए जाने और इसके प्रमाण संविद सभा की कार्यवाही में मौजूद होने के तथ्य का उल्लेख भी किया है। अदालत का यह फैसला यकीनन दोनों समुदायों के बीच की स्थिति को स्पष्ट करता है। बल्कि वर्ष २००१ की जनगणना के अनुसार करीब ४२ लाख की जैन आबादी को यह अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में संविधान प्रदत्त तमाम अधिकारों से लैस भी करता है। आखिर भारत की कुल आबादी का यह समुदाय ०.४ प्रतिशत है। लेकिन सवाल यह है कि क्या ऐसे वैधानिक फैसलों से धार्मिक समुदायों के अन्तर्सम्बन्धों में भी खटास पड़ती है? नहीं ! यह सुखद है कि कानूनी रूप से पृथक् धार्मिक पहचान के बावजूद जैन व हिन्दू धर्मावलंबियों के बीच कभी कोई टकराव नहीं देखा गया है। दोनों समुदाय के अनुयायियों को आज भी एक-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे के पूजा स्थलों में श्रद्धा से झुकते देखा जा सकता है। ऐसा सिर्फ जैन धर्म के आलोक में ही नहीं देखा जाना चाहिए। सच तो यह भी है कि आनन्दमार्गियों और रामकृष्ण मिशन से जुड़े लोगों ने भी अपने को हिन्दू धर्म से पृथक् एक अलग सम्प्रदाय के रूप में स्थापित करने की लम्बी लड़ाई लड़ी। रामकृष्ण मिशन की खुद को अल्पसंख्यक समुदाय घोषित करने की याचिका को तो बाकायदा अदालत ने खारिज किया था। लेकिन आज भी उसके मठों में हिन्दुओं की आस्था कायम है। क्यों? भारतीय मानस सर्वधर्म समभाव की सांस्कृतिक विरासत से निर्मित होता है और देश की बहुसंख्यक आबादी अपनी संरचना में ही नहीं, अपनी सोच में भी लोकतांत्रिक है। यही वजह है कि बहुसंख्यकों के धार्मिक हितों के नाम पर जब भी गुब्बारे भरे जाते हैं, तो उनको फूटते देर नहीं लगती। धार्मिक हिंसा व नफरतों से छलनी होते वैश्विक समाज को आज ऐसे ही जज्बे की जरूरत है। बहरहाल, हमारी ताकत हजारों जातियों व दर्जनों संप्रदायों से बनती है। इन सबको सहेजने के लिए जरूरी है कि पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी हम एक-दूसरे को थामे रहें। वर्तमान में एक प्रश्न अत्यन्त चर्चा में है कि जैन हिन्दू ही हैं या उनका अपना पृथक् अस्तित्व है। इस प्रश्न के समाधान के सन्दर्भ में श्री विनायक दामोदर सावरकर का प्रस्तुत लेख अत्यन्त प्रासंगिक है। आशा है इस विषय में यह लेख कुछ समुचित समाधान प्रस्तुत कर सकेगा। -सम्पादक

ज्ञातव्य है कि भगवान श्री ऋषभदेव को जहाँ जैन प्रथम तीर्थंकर मानते हैं, वहीं श्रीमद्भागवत् के अनुसार वे अष्टम अवतार हैं और उन्हें आदि-ब्रह्मा भी कहते हैं। चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय कुल के थे और इन सभी के गणधर ब्राह्मण थे। आज भी अनेक जैन संत क्षत्रिय और ब्राह्मण कुल के हैं। हिन्दू शब्द की एक प्राचीन व्याख्या इस प्रकार मिलती है– 'हिण्ड्यते भवाद् भवम् इतिये मन्यन्ते ते हिन्दवः' अर्थात्– आत्मा एक भव से दूसरे भव में जाती है, ऐसा मानने वाले हिन्दू हैं। उसी प्रकार भैरु तंत्र में भी लिखा है— 'हिंसया दुह्यते यस्य हृदयं सः हिन्दू', अर्थात्–हिंसा से जिसका हृदय दुःखी होता है, वह हिन्दू है। इसीलिए जैनाचार्यों ने कहा कि 'यदि कोई हिन्दू ही नहीं है तो वह जैन कैसे हो सकता है।'

वर्तमान परिवेश में इन प्रश्नों के समाधान की दिशा में सन् १९५० में प्रकाशित प्रख्यात क्रान्तिकारी, राष्ट्रभक्त, स्वतन्त्रता सेनानी श्री विनायक दामोदर सावरकर का लेख एकबार पुनः प्रासंगिक हो गया है, आइये देखें इस सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं-

मैं हिन्दू क्यों?– इस समय जैनों के हिन्दुत्व के विषय में फिर से 'वाद' उपस्थित हुआ है। यदि 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या पहले से ही ठीक हुई होती, तो इस तरह के 'वाद' उपस्थित नहीं होते। जब तक हिन्दू शब्द की स्पष्ट, अनुत्तरणीय (unanswerable) एवं निर्विवाद व्याख्या सामने नहीं आती, तब तक यह 'वाद' कभी मिट नहीं सकता। जब कर्मठ हिन्दू ही "मैं हिन्दू क्यों?"– इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकता, तब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संशय में पड़े हुए दूसरे लोगों को "तुम हिन्दू क्यों?" कैसे समझाया जा सकता है?
हिन्दुत्व की स्पष्ट व्याख्या आज तक निश्चित न होने का मुख्य कारण यह है कि 'मुस्लिम धर्म या ईसाई धर्म की तरह हिन्दू धर्म भी किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ पर या एक विशिष्ट पैगम्बर आदि के स्वरूप पर आधारित है'– यह बात प्रत्येक व्यक्ति मानने लगा। दूसरी दिशा-भूल यह हुई कि 'हिन्दू-धर्म' का अर्थ 'हिन्दुत्व' ही माना गया। इस शताब्दी में जो लगभग ५० के करीब व्याख्याएँ हुई हैं, वे इसी गलत दृष्टिकोण से बनी हैं। उनमें से बहुत सी व्याख्याएँ नाटेशन एण्ड कं. द्वारा प्रकाशित किए 'Who is Hindu' इस पुस्तक में संगृहीत हैं। उनको देखने से उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध होती है।

हिन्दुत्व की व्याख्या– इसलिये मैंने 'हिन्दुत्व' की व्याख्या उपर्युक्त प्राचीन विचारों को छोड़कर उस शब्द के मूल इतिहास के अनुसार करने की कोशिश की है। जब अनेक अर्थों के कारण संक्लिष्ट हुए अर्थ का मुख्यार्थ एवं उसका मर्म निश्चित करना होता है, तब उस शब्द के मूल को देखकर उसके इतिहास के अनुसार चलने से उस शब्द का मुख्यार्थ मिल जाता है। इसी मार्ग का अवलम्बन करके 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति, उत्पत्ति एवं इतिहास के आधार पर हिन्दुत्व की नई व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इससे केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही उस शब्द को देखने से प्राचीन व्याख्याओं में जो गड़बड़ी थी, वह नहीं रहती है और निर्विवाद ऐतिहासिक आधार पर सुस्पष्ट, सर्वसंग्राहक एवं बुद्धि-ग्राह्य व्याख्या बन जाती है। वह व्याख्या पारलौकिक श्रद्धा, अदृष्ट-विषयक तत्त्ववाद, ग्रन्थ-विशेष या व्यक्ति की धार्मिक निष्ठा की वादग्रस्त नींव पर से नहीं बनी है। अतः यह बुद्धि की किसी भी कसौटी पर टिकती है—

"आसिन्धु सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारत-भूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै, हिन्दुरिति स्मृतः।।"

अर्थ– सिन्धु नदी से लेकर समुद्र-पर्यन्त की भारतभूमि (हिन्दभूमि) जिनकी पितृभू– अर्थात् पूर्वजों का स्थान और पुण्यभू अर्थात् धर्मसंस्थापक, प्रवर्तक, तीर्थ, भाषा आदि का स्थान है; वे सब हिन्दू हैं।

सौभाग्य से यही व्याख्या स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, भाई परमानन्द प्रभृति आर्यसमाजी भाइयों ने अत्यन्त उत्सुकता एवं संतोष से सबसे पहले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकृत की। रत्नागिरी, नासिक, पूना, नागपुर और अन्य स्थानों की हिन्दू-सभाओं ने इस व्याख्या को स्वीकार किया है। हिन्द महासभा में यही व्याख्या मानी जाती है। इस व्याख्या को समझने के लिए प्रथमतः 'हिन्दू' शब्द के विषय में प्रत्येक विचारक हिन्दू को निम्न विधानों को ख्याल में रखना जरूरी है।

कुछ विधान– (१) 'हिन्दू' शब्द किसी धर्मग्रन्थ, ईश्वर-प्रेषित दूत, अवतार या देवता के नाम पर से नहीं निकला है। वेदों का जो अनुयायी है वह 'वैदिक', 'क्राइस्ट' का जो अनुयायी वह 'क्रिश्चियन', 'जिन' का जो अनुयायी वह जैन; 'बुद्ध' का जो अनुयायी वह बौद्ध, जो शिवपूजक वह शैव; विष्णुपूजक वह 'वैष्णव', इस प्रकार किसी भी धर्मग्रन्थ,पंथ या व्यक्ति के साथ 'हिन्दू' शब्द धर्मदृष्टि से बंधा नहीं है– यह उसकी उत्पत्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है। जैसे मुहम्मद पैगम्बर के कुरान के पारलौकिक संदेश को माननेवाला मुस्लिम, अद्वैत को माननेवाला 'अद्वैती', नानकगुरु के पारलौकिक संदेश को माननेवाला 'सिक्ख' इत्यादि शब्द हैं; उसी प्रकार का 'हिन्दू' शब्द नहीं है। 'हिन्दू' शब्द के धात्वर्थ और उपयोग से स्पष्ट होता है कि यह शब्द किसी पारलौकिक तत्त्व, मत या पंथ के अनुयायी का वाचक नहीं है।

(२) 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति 'सिंधु' शब्द से हुई है। 'वेदों' में उनके अपने समय के राष्ट्र को 'सप्तसिंधु' नाम से सम्बोधित किया है, उसी प्राचीन समय में मुसलमानों के उदय के पूर्व मैं सैकड़ों वर्षों से प्राचीन पारसी हमारे राष्ट्र को उसी 'सप्तसिंधु' शब्द से निकले हुए 'हप्तहिंदु' नाम से सम्बोधित किया करते थे। प्राचीन बेबिलोनियन हमारे देश को 'सिंधु' कहते थे। उस शब्द के इस प्राचीनतम अर्थ का आज भी अवशिष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि 'सिंधु नदी के किनारे पर स्थित एक प्रान्त का वही प्राचीनतम नाम हमेशा रहा है और अभी भी उसे सिंधु-देश, सिंधु-राष्ट्र (सिंधु, सिंध) ऐसा कहते हैं। 'सिंधु' शब्द का ही प्राकृत भाषा के ('स' का 'ह' होने के) नियमानुसार 'हिन्दू' यह प्राकृत शब्द बना। इस शब्द के इस अत्यन्त संक्षेप में बताये गये उत्पत्ति के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'हिन्दू' यह शब्द वेदकाल में सप्तसिंधु इस अति प्राचीन मूलरूप से किसी भी पारलौकिक मत का यानी धर्म का निदर्शक न होकर एक देश का यानी एक विशिष्ट राष्ट्र का वाचक रहा है। इसका अर्थ– सर्वस्व मूलतः धर्मनिष्ठ न होकर देशनिष्ठ या राष्ट्रनिष्ठ होता है।

एक प्राचीन उल्लेख– 'भविष्यपुराण' में इस विषय का एक उल्लेख जितना कौतुकपूर्ण है, उतना ही स्पष्ट होने के कारण इस शब्द के वास्तविक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ के एक बहुत पुराने प्रमाण के रूप में उसे यहाँ दे सकते हैं। शालिवाहन नाम के राजा के समय के वर्णन के प्रसंग में इस पुराण में लिखा है-

जित्वा शकान् दुराधर्षान्, चीनतैत्तिरिदेशजान्।
वाल्हीकान् कामरुपांश्च रोमजान् खरजान् शठान्।।

तेषां कोशान् गृहीत्वा च दण्डयोग्यानकारयत्।
स्थापिता तेन मर्यादा म्लेच्छार्याणां पृथक्-पृथक्।।

सिन्धुस्थानमिति प्राहुः राष्ट्रमार्यस्य चौत्तमस।
म्लेच्छस्थानं परं सिन्धोः कृतं तेन महात्मना।।''

-(भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व, अ॰२)

अर्थ- इसका मतलब है कि शकादिकों को जीतनेवाले उस आर्यराजा ने अपने श्रेष्ठ आर्यराष्ट्र की 'सिन्धु' यही सीमा रखी। 'सिन्धु' के इस पार (पूर्व) के देश का 'सिन्धुप्रदेश' और उस पार (पश्चिम) के देश का 'म्लेच्छ प्रदेश' नाम पड़ा। इन श्लोकों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में भी 'सिन्धु' (हिन्दू) शब्द किसी धर्मविशेष का वाचक नहीं था।

'जैन' हिन्दू क्यों?- 'हिन्दू' शब्द का यही राष्ट्रनिष्ठ अर्थ जैनियों के प्राचीन साहित्य में निःसंदिग्धता से स्वीकार किया गया है। इस बात को जैन विद्वान् अवश्य जानते हैं। जैन साहित्य में 'हिन्दू' शब्द का गौरव से उल्लेख है और 'हिन्दू' का अर्थ है 'आर्य, जो हिंसा को या हीन कर्मों को बुरा मानता है, उसकी निन्दा करता है'- इस तरह उसका विश्लेषण किया है।

हिन्दू शब्द को जैन, वैदिक, शाक्य, शैव, सांख्य या वैष्णव- इस तरह किसी विशेष धर्मों से अथवा धर्ममतों से सम्बन्धित नहीं किया है। जिस आर्यपद्धति को जैन बड़े अभिमान से मानते आये हैं, उसी अर्थ से 'हिन्दू' शब्द का भी उनके साहित्य में गौरव से प्रयोग हुआ है।

इन सब कारणों से यह स्पष्ट है कि 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या किसी भी धर्मनिष्ठ अर्थ पर ही उपस्थित करना बड़ी मोटी भूल है। 'हिन्दू' शब्द मूलतः देशवाचक-राष्ट्रवाचक (या प्रजावाचक) है। उसका मुख्य आधार 'आसिंधु-सिंधु' ही है। 'आसिंधु-सिंधु' भारतभूमि में अत्यन्त प्राचीनकाल से जिनके पूर्वज परम्परा से निवास करते आये हैं, इसी राष्ट्र में प्रचलित संस्कृति, गढ़े गये इतिहास, बोली गयी भाषा, अनुसरण किये गये धर्म, जिनके संस्कृतिं, इतिहास, भाषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और धर्म हैं; वे सब हिन्दू हैं, उस राष्ट्र के 'घटक' हैं।

यही सत्य सूत्ररूप से उक्त श्लोक में कहा है। हिन्दुत्व की ऐतिहासिक एवं सार्थ व्याख्या यही है कि 'जिसकी यह आसिंधु-सिंधु-तक भारत-भूमि, पितृ-भूमि और पुण्य-भूमि है; वह हिन्दू है अर्थात् व्यक्ति के सदृश जो धर्म व पंथ इस हिन्दू जाति में एवं इस हिन्दुस्तान में जन्मे, यानी जिस-जिस धर्म की व पंथ की यह भारतभूमि, पितृभूमि और पुण्यभूमि है; वह प्रत्येक धर्म एवं पंथ 'हिन्दू' है।

इन विविध धर्मों में व पंथों में सत्य कौन-सा और श्रेष्ठ कौन-सा? इसका व्याख्या से बिलकुल सम्बन्ध नहीं है अर्थात् 'हिन्दूधर्म' यह नाम किसी एक विशिष्ट धर्म का या पंथ का वाचक नाम या पंथ या धर्म-विशेष का अभिन्न नाम नहीं है। वरन् जिन अनेक धर्मों की एवं पंथों का यह भारतभूमि, पितृभूमि, एवं पुण्यभूमि है; उन सभी को, सम्मिलित करनेवाले धर्मसंघ का 'हिन्दूधर्म' यह नाम है। हिन्दुत्व की यह व्याख्या हमारे जैन-बंधुओं के पक्ष में भी कैसी ठीक मिलती है, देखिए–

जैन भारतवासी हैं– कोई भी निष्ठावंत भारतीय जैन इस बात से कभी भी इनकार नहीं करेगा कि 'भारतभूमि उसकी मातृभूमि है।' भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध के सदृश एक गणतंत्रशाली सुविख्यात क्षत्रिय जाति में जन्मे थे। यहाँ अनेक बड़े-बड़े प्रचारक साधु, श्रावक, श्रमण आदि हुए हैं, चीन, अरेबिया, रूस आदि में नहीं। संसार का अन्य कोई भी देश इनकी 'पितृभूमि' का 'पितृलोक' का स्थान नहीं पा सकता। यह वस्तुस्थिति निर्विवाद है, यह स्वयंसिद्ध इतिहास है।

इतने ही निर्विवाद रूप से यह भी सिद्ध है कि जैनधर्म के मूलाधार तीर्थंकरादि, धर्मधुरंधर महापुरुष, शास्ता, धर्मग्रन्थ, तीर्थक्षेत्र आदि इसी भारतभूमि में ही उदित हुए हैं, एवं अपने अस्तित्व से इसी को पावन करते आये हैं। यही भारतभूमि जैनों की भी पुण्यभूमि (Holy Land) है। मुसलमानों की धर्मभूमि जैसे अरेबिया; यहूदी और ईसाइओं की पुण्यभूमि जैसे पेलेस्टाइन; जैरुसलेम; पारसियों की जैसे पर्शिया; वैसे ही जैनों की धर्मभूमि, पुण्यभूमि यह 'भारतभूमि' है। इसी भारतभूमि में जैनधर्म पैदा हुआ और यहीं उसका विकास हुआ।

अर्थात् जिसकी यह भारतभू, पितृभू एवं पुण्यभू है, वह हिंदू– इस व्याख्या के अनुसार भारतीय 'जैन' सम्पूर्णतः 'हिन्दू– हैं, यह निश्चित है। किसी भी जैन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बंधु को पूछिए कि उसकी पितृभूमि क्या है?' तो वह यह अवश्य कहेगा कि उसकी पितृभूमि यह 'भारतभूमि' है। आप किसी भी जैन बन्धु को पूछिए कि उसकी पुण्यभूमि, धर्मभूमि कौन है? तो यह कहेगा कि 'यही भारतभूमि।' अर्थात् इन उपरोक्त दो बातों से ही स्पष्ट हो जाता है कि जैन बन्धु निर्विवाद हिन्दू हैं।

'हिन्दू' की ही शाखा– 'हिन्दू' शब्द की उपरोक्त व्याख्या का जैनधर्म के स्वातन्त्र्य से कोई भी विरोध नहीं है। वैदिकधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म स्वतंत्र हों या परस्पर एक-दूसरे की शाखा हों, अस्तिवादी हों या नास्तिवादी हों, इन किसी भी प्रकार के परलोकविषयक-तत्त्वज्ञान पर या धर्म पर हिन्दुत्व की यह व्याख्या आधारित ही नहीं है। इसीलिए इस व्याख्या की दृष्टि से अपने को 'हिन्दू' कह लेने मात्र से अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता में या गौरव में या श्रेष्ठता में थोड़ी भी न्यूनता आने का भय जैन-बंधुओं को रखने की आवश्यकता नहीं है। जैनों को ही क्यों, वैदिक, बौद्ध, सिक्ख, लिंगायतादि-किसी भी भारतीय धर्म या पंथ को इस तरह का भय इस व्याख्या के कारण नहीं रहता। यह व्याख्या इन धर्मों के विषय में निर्विवाद रूप से यह बात स्पष्ट करती है कि 'चूँकि सारे धर्म या पंथ इस भारतीय जाति में एवं इस भारतभूमि में ही पैदा हुए हैं और विकसित हुए हैं, यही भारतभूमि पितृभूमि एवं पुण्यभूमि है।' इस बात को एक शुद्ध ऐतिहासिक सत्य होने के कारण वैदिक, अवैदिक, सिक्ख, बौद्ध या जैन कोई भी हिन्दू साभिमान स्वीकार करके स्वयं मानेंगे और सगर्व कहेंगे कि– ''यह भारतभूमि हमारे जैनों की या हमारे वैदिकों की 'पितृभूमि' है,''– इसमें कोई संशय नहीं है।

लेकिन फिर जैन-बन्धुओं को इस विषय में संशय क्यों उत्पन्न हुआ? जब बहुत-से जैन बंधु साभिमान अपने को 'हिन्दू' कहते हैं; तब दूसरे कुछ जैन लोग अपने को 'हिन्दू' क्यों नहीं कहते?– इसका विचार करना चाहिए। अपने को हिन्दू नहीं मानने वाले जैन-बन्धुओं के आक्षेपों का समाधान उपरोक्त व्याख्या के अनुसार कि 'केवल जैन हिन्दू हैं', – यह कहकर करने पर और हिन्दुत्व के उपरोक्त सच्चे अर्थ के अनुसार 'हिन्दू' शब्द की देशनिष्ठ और राष्ट्रनिष्ठ व्याख्या करने पर भी जिन आक्षेपों के कारण वे लोग अपने को 'हिन्दू' कहने में डरते हैं, वे आक्षेप मूलतः लंगड़े हैं। उनका मुख्य आक्षेप है– ''जैनधर्म 'हिन्दूधर्म' से मूल से ही स्वतन्त्र है, वह हिन्दूधर्म की शाखा नहीं है, अतः जैन 'हिन्दू' नहीं हैं।''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आक्षेपों का निरसन– उनका यह आक्षेप वस्तुत: वैदिकधर्म पर है। उनका कहना है कि जैनधर्म वैदिकधर्म की शाखा न होकर वह एक स्वतंत्र धर्म है। उनका यह कहना ठीक है, तथा उससे केवल इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि जैन वैदिक नहीं हैं। परन्तु इस कारण उनके 'हिन्दू' होने में कोई बाधा नहीं है, यह 'हिन्दू' शब्द के सत्यार्थ से स्पष्ट है। 'जिन' और 'वेद' इन शब्दों से बने 'जैन' और वैदिक'– ये दोनों शब्द जितने निर्विवाद रूप से धर्मनिष्ठ, एक पारलौकिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व-पद्धति के या धर्मग्रन्थ के द्योतक हैं; उतनी ही निर्विवादता से 'हिन्दू' शब्द किसी धर्म-वाचक शब्द से नहीं बना है। अपितु वह मूलत: और मुख्यत: देशनिष्ठ और राष्ट्रनिष्ठ है। 'जो वेद का अनुयायी है वह हिन्दू'–ऐसा 'हिन्दू' शब्द का पूरा अर्थ नहीं है। परन्तु 'हिन्दू' शब्द का 'वैदिक' शब्द के स्थान पर गलती से उपयोग होने के कारण ही हमारे कुछ जैन-बंधुओं को इस शब्द का त्याग करने की इच्छा होती है। परन्तु उपरोक्त 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या पर जिसे हिन्दू महासभा ने भी स्वीकृत किया है, यह आक्षेप नहीं आ सकता है। अत: इस व्याख्या के अनुसार ये दूसरे पक्ष के लोग भी अपने को हिन्दू मानेंगे? क्योंकि व्याख्या के कारण वैदिकधर्म से जैनधर्म का स्वातन्त्र्य संरक्षित रखने में उनको किसी प्रकार की पाबन्दी नहीं है। कौन-सा धर्म स्वतंत्र है, या शाखा है– यह उसका विषय है ही नहीं। यह व्याख्या इतना ही देखेगी कि 'धर्म स्वतंत्र हो या किसी धर्म की शाखा हो, हमारी इस भारतीय जाति में जन्म लेने के कारण उसकी 'पितृभूमि' एवं 'पुण्यभूमि' आसिंधुसिंधु भारतभूमि ही है, या नहीं?'

गलत व्याख्या के कारण नासमझी हो गई– जो वेद को प्रमाण मानता है, वही 'हिन्दू' है– ऐसा समझने की भूल हम सबसे हो गई। इसी भूल के कारण हिन्दू-राष्ट्र के अवैदिक-जैन बौद्ध, सिक्ख आदि के मन में जो कलुषता उत्पन्न हुई है; उसका दोष इनका अकेले का नहीं है। 'जो वैदिक, वही हिंदू' ऐसा हम जब तक भूल से कहते आये, तब तक जिनको वेदप्रामाण्य मान्य नहीं था, जिनकी निष्ठा 'जैन-बौद्धप्रभृति धर्म स्वतन्त्र धर्म हैं'– या थी, उनको वैदिक के अर्थ में ही उपयोग किए गये 'हिन्दू' शब्द के त्याग करने की स्वभावत: इच्छा हुई। हिन्दूराष्ट्र के बहुसंख्यक लोग आज भी 'श्रुति-स्मृति पुराणोक्त सनातनधर्म' के अनुयायी होने के कारण बहुसंख्यक के नाम पर उस समाज को स्थूल लक्षण से सम्बोधित करते हैं, इसमें किसी ने भी किसी भी हेतु पुरस्कार या दृष्टहेतु से 'वैदिक' अर्थ में 'हिन्दू' शब्द का उपयोग किया– ऐसी बात नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है; तथापि अत्यन्त विशाल, विविधार्थक एवं बहुसंग्राहक शब्द का निचूक अर्थ निश्चित कर उसकी सुनिश्चित व्याख्या करने का प्रयत्न करना कठिन था। पूर्वाचार्यों ने दिशा भूल से अनेक व्याख्या करके उस शब्द को तोड़-मरोड़कर उसको निश्चित अर्थवाला बनाने का प्रयत्न किया और तभी 'हिन्दू' शब्द की स्पष्ट बहुतांशी निर्णायक व्याख्या प्राप्त हुई। अब इस व्याख्या के अनुसार 'वैदिक' या 'सनातनी' बंधु ही केवल 'हिन्दू' नहीं, यह सिद्ध हुआ है; तब सबको गत-भूलों को छोड़कर इस पितृपूज्य हिन्दुत्व की ध्वजा के नीचे इकट्ठा होना उचित है। 'श्रुतिस्मृति-पुराणोक्त ही केवल हिन्दू हैं' इस गलत व्याख्या के कारण तथा 'हिन्दू' शब्द 'परकीय' है– इस भ्रम के कारण ही एक बार वैदिक धर्म के कट्टर अभिमानी आर्यसमाजी भाइयों ने भी 'हिन्दू' शब्द स्वीकार नहीं किया था। परन्तु इस व्याख्या के कारण एवं वह शब्द वैदिक शब्दोत्पन्न नहीं है– इस संशोधन के कारण वह शब्द आर्यसमाजियों के द्वारा स्वीकृत हुआ है। उसी प्रकार इस व्याख्या के अनुसार हमारे जैन भाइयों को भी उस अर्थ की अपेक्षा उस शब्द को अंगीकार करना चाहिए।

कुछ फुटकर आक्षेप– इससे 'जैन धर्म' वैदिक धर्म की शाखा न होकर वह एक स्वतन्त्र धर्म है; अत: जैन वैदिक नहीं है' केवल यही सिद्ध होता है। 'हिन्दू' शब्द का इस आक्षेप से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस उपरोक्त कथन से 'हिन्दू' कह लेने में जो जैन भाइयों का आक्षेप है, उसका जिस तरह समाधान हो सकता है; उसी तरह शेष फुटकर आक्षेपों का भी समाधान हो सकता है। उदाहरणार्थ उनका यह आक्षेप है कि 'प्राचीन इतिहास में जैन और हिन्दुओं के बीच में झगड़े हुए हैं, अत: जैन अपने को हिन्दू कैसे कहेंगे?' इस आक्षेप में भी 'हिन्दू' शब्द को 'वैदिक' अर्थ के उपयोग में लाने की भूल है। उस आक्षेप को इस तरह कहना चाहिए– "जैन और वैदिकों के बीच पीछे और आज झगड़े होते हैं, अत: 'जैन' अपने को 'वैदिक' कैसे कहेंगे?" हिन्दू शब्द के उपरोक्त मूल एवं निश्चित अर्थ में प्रयुक्त उस शब्द पर यह आक्षेप नहीं लगता है। फिर हमको यह सोचना चाहिए कि धार्मिक झगड़े धर्मतत्त्व नहीं होते हैं। यदि उनको धर्मतत्त्व मानने लगें, तो कोई भी धर्म या पंथ अखंड नहीं हो सकता। वैदिक और जैनों में जिस तरह झगड़े हुए हैं; उसी तरह वैदिकों में भी झगड़े हुए हैं। 'शैव' और 'वैष्णवों' के, 'सनातनी' और 'आर्यसमाजियों' के झगड़े हुए हैं। तुकाराम का छल मंबाजी बुवा ने किया, इसलिए क्या उनमें से किसी ने "हमारे प्रतिपक्षी वैदिक हैं, अत: मैं वैदिक नहीं हूँ"– ऐसा कहा है? जैनों में भी झगड़े

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या कम हुए हैं? दिगम्बर और श्वेताम्बर, 'यह जैन राजकुल' और 'वह जैन राजकुल', यह जैन जाति श्रेष्ठ या वह? इस प्रकार के झगड़े हो रहे हैं; इसलिए क्या दिगम्बर जैन प्रतिपक्षी श्वेताम्बर जैन से झगड़ते हैं, अतः हम जैन नहीं हैं– ऐसा कहेंगे? झगड़ों के विषय में कहें, तो हमारे हिन्दू राष्ट्र के वैदिक, बौद्ध, जैन, सिक्ख, लिंगायत, आर्य, ब्रह्मसमाजी, सनातनी, सुधारक प्रभृति उपांगों के झगड़े संसार के किसी भी अन्य धर्मों के आपस के झगड़ों से तुलनात्मक दृष्टि से, सौम्य, कम और अपवादमय हैं– यह इतिहास मुक्तकंठ से उद्घोषित करता है। मुसलमानों में सुन्नी की शियों ने, खलीफों की खलीफों ने, बहाइयों की बिन-बहाईयों के द्वारा की गई कत्लें, दिए हुए शाप-प्रतिशाप, पीढ़ी दर पीढ़ी किये गये छल एवं द्वेष देखिए। लेकिन सुन्नी या शिया, या बहाई कोई भी 'अपना प्रतिपक्षी मुसलमान है, अतः मैं मुसलमान नहीं'– ऐसा कहता है? ईसाइयों में केवल 'तुम प्रोटेस्टेंट, मैं कैथोलिक' इस प्रश्न पर ही सिर कटते थे। एक समय पोप ने इसीलिए प्रोटेस्टेंट पंथ के संपूर्ण नीदरलैंड को प्राणान्त की सजा दे दी। पचास-पचास लाख लोगों की एक साथ 'प्रोटेस्टेंट' इस एक नाम से कहकर शिरच्छेद की सजा दे दी। लेकिन क्या प्रोटेस्टेंट या कैथोलिकों ने 'वह ईसाई है, इसलिए हम ईसाई नहीं' ऐसा कहा है? भारत में भी भाई-भाई में युद्ध होते थे, इसलिए क्या 'उस सहोदर भाई के माँ-बाप मेरे माँ-बाप नहीं हैं'– ऐसा दूसरा भाई कहेगा? ये सारे आक्षेप 'हिन्दू' शब्द को 'वैदिक' या 'सनातनी' इस एक ही उपांग में लगाने की भूल से हुए हैं। यह भूल सुधार ली जाये, तो ये आक्षेप मूल में ही कैसे निरर्थक हैं– यह उपरोक्त दिग्दर्शक चर्चा से हमारे जैन भाईयों को ही नहीं; वरन् वैदिक, लिंगायत, बुद्ध, सिक्ख प्रभृति सभी धर्मियों की समझ में आ जाएगा– ऐसी हमें आशा है।

हम सगे जाति-भाई हैं– हम सब की पितृभूमि यही भारतमाता है। हम सबकी पितृभाषा एवं मातृभाषा और धर्मभाषा भी यही एक संस्कृत या प्राकृत है। हमारे सब धर्मसंस्थापक, ईशप्रेषित अवतार और आचार्य वशिष्ठ, व्यास, बुद्ध, महावीर, शंकर, दयानन्द, हमारे इस हिन्दू जाति के सामयिक पूर्वज हैं। प्राचीन काल में हम सबके सामयिक पूर्वजों में आर्यों में ही नहीं, किन्तु आर्य-अनार्य नागादि कुल में भी जब अनुलोम-प्रतिलोम विवाह सतत हुए थे, और आज भी सिक्ख और वैदिक, वैदिक और जैन, जैन और आर्यों में शिष्टाचार से विवाह होते हैं; तब से हम सब एक ही रक्तबीज के सगे जात-भाई हैं। एकजाति, एकजीवी हैं। हमारा इतिहास वैदिककाल से सामयिक है। यवन, हूण,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक, बर्बर आदि प्राचीन और अर्वाचीन म्लेच्छों के आक्रमणों के संकट सबको समान थे। वैदिकों के जो परशत्रु, वही जैनों के; जो जैनों के, वही सिखों के। उन सामयिक शत्रुओं से और परकीय आक्रमणकारियों से जिन गंभीर युद्धों को कर उनको हरा दिया, वे राष्ट्रीय महायुद्ध भी हमने एक हिंदू-ध्वजा के नीचे ही किये और आगे भी करेंगे।

उपसंहार— परन्तु महामंत्र के सदृश 'हिन्दू' शब्द का बिल्कुल दुरुपयोग और दुराचार नहीं हो इसके लिए हम सबको प्रयत्न करना चाहिए। 'हिन्दू' शब्द का आज तक हर एक के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ लेकर दुरुपयोग करने के कारण ही वैदिक, जैन, सिक्ख, आदि में अनावश्यक मनोमालिन्य उत्पन्न हुआ। इस आपत्ति से दूर रहने के लिए जिन दो बातों को करना चाहिए वे निम्न प्रकार हैं—

(१) हिन्दुत्व की व्याख्या सरकार द्वारा लिखा लेनी चाहिए। 'व्याख्या' का अर्थ है 'अखण्ड में खंड करना।' त्रिकोण, चौकोन की गणितीय व्याख्या की सीमा भी शंकाकुल होती है। फिर समाज की या धर्म की कोई भी व्याख्या अपने सीमाप्रदेश में कुछ अंश में विवादास्पद रहेगी ही। लेकिन अन्य व्याख्याओं में से अधिक सर्वसंग्राहक और किसी भी धर्म स्वातंत्र्य में या धर्मतत्त्व में बाधा उपस्थित न करते हुए केवल ऐहिक प्रत्यक्षावगम्य और ऐतिहासिक लक्षणों पर आधारित हिन्दुत्व की उपरोक्त "आसिंधुसिंध–पर्यन्ता" यह व्याख्या हम सबको याद रखनी चाहिए और सरकार द्वारा लिखा लेनी चाहिए; इससे सरकार को भी 'हिन्दू' कौन– यह निश्चित करने में स्वच्छन्दता नहीं रहेगी और आगामी जनगणना में जिसकी-जिसकी यह भारतभूमि, पितृभूमि एवं पुण्यभूमि है, वह 'हिन्दू' इस व्याख्या के अनुसार भारतीय– वैदिक, जैन, आर्य, सिक्ख, लिंगायत, बौद्ध प्रभृति और हिन्दू भाई आदि को धर्म स्वतन्त्र कहकर भी हिन्दू लिखने के लिए सरकार को मजबूर किया जा सकेगा। हर एक को अपना धर्म ऐसा कहना चाहिए– वैदिक हिन्दू, सिख हिन्दू, बौद्ध हिन्दू, लिंगायत हिन्दू आदि। इससे अपना वैदिक या जैन या बौद्ध धर्म स्वतंत्र रखाने में किसी भी प्रकार की पाबंदी नहीं रहेगी, और हिन्दूराष्ट्र में से पृथक् जाने का भी राष्ट्रघातक, संस्कृतिघातक या फिर आत्मघातक कृत्य करने की नौबत नहीं आयेगी।

(२) 'हिन्दू' शब्द उपयोग में लाना सीखिए। 'हिन्दू' शब्द यह एक 'सनातन' धर्म किं वा 'वैदिक' धर्म के अनुयायियों को ही लगाने की आदत छोड़नी चाहिए। 'वैदिक और जैन' ऐसा कहना चाहिए, 'हिन्दू और जैन' ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहना गलत है। जो हिन्दू महासभा या हिंदू संघटक वैदिक, जैन आदि सभा हिन्दू भाइयों को एकत्रित करने के लिए प्रयत्न करते हैं, उनके भाषणों में और लेखों में यह हास्यास्पद, परन्तु अत्यन्त हानिकारक 'वदतोव्याघात' हमेशा होता है। इच्छा मुड़ गयी, तो जीभ मुड़ती नहीं। बुद्ध, सिक्ख, जैन ये हिन्दू ही हैं– यह सिद्ध करने वाले लेख में 'जैन और हिन्दू', जैनों की संख्या इतनी है और हिन्दू की इतनी'; 'सिक्खों के नायकों को हिन्दू के नायकों से मतैक्य करना चाहिए' ऐसे वाक्य बिना समझे उपयोग में लाए जाते हैं। इससे 'जो वैदिक, या सनातनी वही हिन्दू'– ऐसा कुअर्थ उस वाक्य से निकलता है जबकि 'हिन्दू' यह शब्द वैदिक, जैन, सिक्ख आदि अपने यच्च यावत् हिन्दू भाइयों को समाने वाला है– यह कुख्यात विधान लूला पड़ जाता है। अतः अपने को कभी भी 'हिन्दू और जैन, हिन्दू और सिक्ख, हिन्दू और आर्यसमाजी'– इस तरह अत्यन्त आत्मघातक प्रयोग नहीं करना चाहिए। वैदिक और सिक्ख, वैदिक और जैन, सनातनी और आर्यसमाजी, ऐसे शुद्ध प्रयोग करने चाहिए तथा 'हिन्दू' शब्द का अपने अखिल हिन्दू राष्ट्र के उल्लेख के लिए उपयोग में लाना चाहिए।

विनायक दामोदर सावरकर के उपर्युक्त लेख से अधिक अंशों में सहमति रखते हुए जैन तेरापन्थ समाज के प्रतिष्ठित आचार्य महाप्रज्ञ ने अभी हाल ही के पंजाब (कोटकपुरा) में दिये एक सम्बोधन में कहा कि-

धर्म के आधार पर बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक भेद करना सर्वथा अनुचित है। आपका मत है-

अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का विभाग धर्म के आधार पर किया गया है। यह बहुत ही विवादास्पद है। धर्मों का वर्गीकरण समीचीन नहीं है इसलिए इस विभाजन का आधार अपुष्ट ही नहीं अपितु पुनश्चिन्तनीय भी है।

भारतीय संस्कृति में धर्म को दो प्रमुख धाराएँ रही हैं–

१. ब्राह्मण परम्परा, ब्राह्मण धर्म।

२. श्रमण परम्परा, श्रमण धर्म।

ब्राह्मण परम्परा में अनेक सम्प्रदाय रहे हैं। ढाई हजार वर्ष पहले श्रमणों के भी अनेक सम्प्रदाय थे। वर्तमान में श्रमणों के दो सम्प्रदाय विद्यमान हैं– १. जैन धर्म और २. बौद्ध धर्म।

ब्राह्मण परम्परा के अनेक धर्मों का उल्लेख किया जा सकता है– सनातन धर्म, वैष्णव धर्म, शैव धर्म, शाक्त धर्म आदि।

स्वतंत्र धर्म की व्यवस्था के लिए इन दो तथ्यों पर विमर्श किया जाता है–

१. धर्म का प्रवर्तक कौन?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. धर्म का आधारभूत अथवा मान्य ग्रंथ कौन-सा?

हिन्दू-धर्म यह नाम चल रहा है। बीसवीं शताब्दी के लेखकों और वक्ताओं ने इसका प्रचुर उपयोग किया है, किन्तु तथ्यों के आधार पर यह सही नहीं है।

हिन्दू धर्म का प्रवर्तक कौन– इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं है।

हिन्दू धर्म का आधारभूत अथवा मान्य ग्रंथ कौन-सा? इस प्रश्न का उत्तर भी उपलब्ध नहीं है।

इस अवस्था में 'हिन्दू धर्म' यह प्रयोग विवादास्पद है और इस आधार पर किए जाने वाले निर्णय भी सही नहीं हो सकते। इस विषय में विनायक दामोदर सावरकर का अभिमत उल्लेखनीय है–

'हिन्दू शब्द को किसी भी धर्मनिष्ठ अर्थ पर ही उपस्थित करना बड़ी मोटी भूल है। हिन्दू शब्द मूलतः देशवाचक, राष्ट्रवाचक है। इसका मुख्य आधार आसिन्धु-सिन्धु ही है।'

हिन्दू शब्द समाज और राष्ट्र का वाचक है, तब हिन्दू शब्द को धर्म के आधार पर बहुसंख्यक कैसे माना जा सकता है? जैसे वैदिक परम्परा में वैष्णव एक सम्प्रदाय है, वैसे ही श्रमण परम्परा का एक सम्प्रदाय है– जैन। श्रमण परम्परा और वैदिक अथवा ब्राह्मण परम्परा– दोनों प्राचीन हैं। इसलिए वैष्णव और जैन में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का भेद नहीं किया जा सकता। समाज प्रणाली के आधार पर इस्लाम और ईसाई धर्मों को अल्पसंख्यक और हिन्दू समाज को बहुसंख्यक माना जा सकता है, किन्तु धर्म के आधार पर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक विभाग नहीं किया जा सकता। इसलिए बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की समस्या पर नए सिरे से चिंतन होना चाहिए।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन साहित्य में शिक्षा का स्वरूप

अजय कुमार गौतम*

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण।[१]

जैनसूत्रों में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है– १. कलाचार्य २. शिल्पाचार्य ३. धर्माचार्य। कलाचार्य और शिल्पाचार्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनका उपलेपन और संमर्दन करना चाहिए, उन्हें पुष्प समर्पित करने चाहिए, तथा स्नान कराने के पश्चात् उन्हें वस्त्राभूषण से मंडित करना चाहिए। धर्माचार्य को देखकर उनका सम्मान करना चाहिए और उनके लिए भोजन आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।[२]

जैन विदुषी साध्वी चन्दना का कहना है कि ''शिक्षा वह है जो स्वयं को तथा दूसरों को मुक्ति दिलाये अर्थात मोक्ष की प्राप्ति कराये।''[३]

अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण होते थे और विद्यार्थी अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। अच्छे शिष्य के सम्बन्ध में कहा है कि वे गुरुजी के पढ़ाये हुए विषय को हमेशा ध्यानपूर्वक सुनते हैं, प्रश्न पूछते हैं, प्रश्नोत्तर सुनते हैं, उसका अर्थ ग्रहण करते हैं, उस पर चिन्तन करते हैं, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करते हैं, उसके अर्थ को याद रखते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं।[४] दुर्विनीत शिष्य अपने आचार्यों पर हाथ भी उठा देते थे। इस सन्दर्भ में इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदत्त के बाइस पुत्रों का उल्लेख मिलता है। जब उन्हें आचार्य के पास पढ़ने भेजा गया तो उन्होंने कुछ नहीं पढ़ा। आचार्य यदि कभी कुछ कहते-सुनते तो वे आचार्य को मारते-पीटते और दुर्वचन बोलते। यदि आचार्य उनकी ताड़ना करते तो वे अपनी माँ से जाकर शिकायत करते। माँ आचार्य के ऊपर गुस्सा करती और ताना मारती

* शोध छात्र, इतिहास विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि क्या आप समझते हैं कि पुत्र कहीं से ऐसे ही आ जाते हैं।[५]

इसी प्रकार उत्तराध्ययन में वर्णन आया है कि शिष्य अपने गुरु का आदेश पाकर हाथापाई कर बैठते थे। हरिकेशी मुनि जब किसी ब्राह्मण के यज्ञवाटक में भिक्षा के लिए गये तो अपने अध्यापक का इशारा पाकर छात्रगण (खंडिय) मुनि को डंडों, बेतों और कोड़ों से मारने-पीटने लगे जिससे उनके मुँह से खून की उल्टी होने लगी।[६]

विद्यार्थी जीवन

प्राचीन युग में विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्र और रहने-सहने का क्या प्रबन्ध था, इस विषय का ठीक-ठाक पता नहीं चलता। लेकिन जान पड़ता है कि विद्यार्थी सादा जीवन व्यतीत करते थे। कुछ विद्यार्थी अध्यापक के घर रहकर पढ़ते और कुछ नगर के धनवन्तों के घर अपने रहने, खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेते थे। शंखपुर के अगडदत्त नाम के राजकुमार का उल्लेख मिलता है जिसने वाराणसी में कलाचार्य के घर रहते हुए विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त की थी।[७]

कभी विद्यार्थी का विवाह अपने ही उपाध्याय की कन्या से भी हो जाता था। मगध देश के अचल ग्राम में धरणिजत नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र का नाम कपिल था। वह रत्नपुर नगर में गया और वहाँ उपाध्याय के घर रहकर विद्याभ्यास करने लगा। कुछ समय पश्चात् उपाध्याय ने अपनी कन्या सत्यभामा का उससे विवाह कर दिया।[८]

अनध्याय

अनध्याय के दिन पाठशालाएँ बन्द रहती थीं। कोई बाह्य कारण उपस्थित हो जाने पर भी पाठशालाओं में छुट्टी हो जाती थी। यदि कभी आकाश में असमय में मेघ दिखायी देते, मेघ गर्जना सुनायी पड़ती, बिजली चमकती, घनघोर वर्षा होने लगती, कुहरा गिरता, अंधड़ चलता या चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण लगता तो पाठशालाओं में अध्यापन का कार्य बन्द रहता। यदि कभी दो सेनाओं या दो ग्रामों में लड़ाई ठन जाती और आस-पास की शान्ति भंग हो जाती, स्त्रियाँ कलह करने लगतीं, मल्ल-युद्ध होता या ग्राम स्वामी या ग्रामप्रधान आदि की मृत्यु हो जाती तो भी स्वाध्याय करने का निषेध था। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे कारणों को लेकर भी पढ़ाई बन्द हो जाती। उदाहरण के लिए यदि बिल्ली चूहे को मार देती, मार्ग में अंडा दिखाई दे जाता, मोहल्ले में किसी बालक का जन्म होता तो भी अध्ययन बन्द कर दिया जाता था।[९]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाठ्यक्रम

वेद भारतीय साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, अतएव वेदों का अध्ययन आवश्यक था। प्राचीन जैनसूत्रों में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीन वेदों का उल्लेख मिलता है।[१०] वैदिक ग्रन्थों में निम्नलिखित शास्त्रों का उल्लेख है— छह वेदों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास (पुराण) और निघंटु, छह वेदांगों में संख्यान (गणित) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष : उपांगों में वेदांगों में वर्णित विषय और षष्ठितंत्र। उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में निम्नलिखित चतुर्दश विद्यास्थानों को गिनाया गया है— छह वेदांग, चार वेद मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र।[१२] इसके पश्चात् जैन आगमों में अर्वाचीन माने जाने वाले अनुयोगद्वार और नन्दीसूत्र में नीचे लिखे लौकिक श्रुत का उल्लेख किया गया है– भारत, रामायण, भीमसुरुक्ख, कौटिल्य (कोडिल्लय) घोटकमुख, सगडियिद्दिआउ, कप्पासिअ, णागसुहुम, कनकसप्तति (कणगसत्तरी), वैशिक (वेसिय), वैशेषिक (बइसेसिय), बुद्धशासन, कपिल, लोकायत,[१४] षष्ठितन्त्र, माठर, पुराण, व्याकरण, नाटक, बहत्तर कलायें और अंगोपांग सहित चार वेद। नन्दीसूत्र में तैराशिक भगवान पातञ्जलि और पुरुषदेव का भी उल्लेख मिलता है।

स्थानांगसूत्र ने नौ पापश्रुत स्वीकार किये हैं– १. उत्पात, रुधिर की वृष्टि आदि का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र। २. निमित्त अतीतकाल के ज्ञान का परिचायक शास्त्र, जैसे कूटपर्वत आदि, ३. मंत्रशास्त्र, ४. आख्यायिका (आइक्खिय), मातंगी विद्या जिससे चांडालिनें भूतकाल की बातें कहती हैं ५. चिकित्सा (आयुर्वेद) ६. लेख आदि ७२ कलाएँ ७. आवरण (वास्तुविद्या) ८. अण्णाण (अज्ञान) भारत, काव्य, नाटक आदि लौकिक सुत, ९. मिच्छापवयण (मिथ्याप्रवान) बुद्ध शासन आदि।[१५]

बहत्तर कलाएँ

जैन सूत्रों में ७२ कलाओं की मान्यता है।[१६] इनमें शिल्प तथा ज्ञान-विज्ञान की परम्परागत सूची दी गयी है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हर कोई इन सभी कलाओं में निष्णात होता था। बहत्तर कलाओं का वर्गीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है।[१७] – १. लेखन और पठन-पठन-लेख और गणित। २. काव्य जिसमें पोरकाव्य ३. रूपविद्या ४. संगीत ५. मिश्रित द्रव्यों के पृथक्करण की विद्या दगभट्टिय. ६. द्यूत ७. विविध प्रकार के लक्षण और चिह्न ८. शकुन विद्या में शकुनरुत ९. ज्योतिषविद्या १०. रसायन विद्या ११. वास्तुकला में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तुविद्या १२. युद्ध विद्या में युद्ध आदि।

विद्या के केन्द्र

प्राचीन भारत में राजधानियाँ, तीर्थस्थान और मठ-मंदिर शिक्षा के केन्द थे। राजा-महाराजा तथा सावन्त लोग साधारणतया, विद्या केन्द्रों के आश्रयदाता होते थे। समृद्ध राज्यों की राजधानियों में दूर-दूर के विद्वान् लोग आकर बसते और ये राजधानियाँ विद्या केन्द्र बन जाती थीं। वाराणसी शिक्षा का मुख्य केन्द्र था। शंखपुर का निवासी राजकुमार अगडदत्त विद्याध्ययन के लिए वाराणसी गया और वहाँ अपने उपाध्याय के घर रहकर उसने शिक्षा प्राप्त की, इसका उल्लेख पहले आ चुका है। श्रावस्ती शिक्षा का दूसरा केन्द्र था। पाटलिपुत्र भी लोग विद्याध्ययन के लिए जाते थे। दक्षिण में प्रतिष्ठान विद्या का बड़ा केन्द्र था।[१८] तक्षशिला का उल्लेख बौद्ध-काल में अनेक स्थानों पर मिलता है; जैन सूत्रों में इसका उल्लेख नहीं आता।

साधु और साध्वियों के उपाश्रय और वसति-स्थानों में भी उपाध्यायों के द्वारा परम्परागत शास्त्रों की शिक्षा देने के साथ-साथ शब्द, हेतुशास्त्र, छेदसूत्र, दर्शन, शृंगारकाव्य और निमित्तविद्या आदि सिखाये जाते थे। श्रमणों के संघों को चलती-फिरती पाठशालाएँ ही समझना चाहिए। विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में शास्त्रार्थ और वाद-विवादों द्वार सत्य और सम्यग्ज्ञान को आगे बढाना, श्रमणों की शैक्षणिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की आश्चर्यजनक विशेषता थी। वाद-पुरुष अपनी-अपनी स्थलियों और सभाओं में बैठकर दर्शनशास्त्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चाएँ किया करते थे। जैन भिक्षुओं और रक्तपटों (बौद्धों) में इस प्रकार के सार्वजनिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। यदि कोई जैन भिक्षु स्वसिद्धांत का प्रतिपादन करने में पूर्णरूप से समर्थ न होता तो उसे दूसरे गण में जाकर तर्कशास्त्र अध्ययन करने के लिए कहा जाता। तत्पश्चात् राजा और महाजनों के समक्ष परतीर्थिकों को निरुत्तर करके भिक्षु बाद में जय प्राप्त करता।[१९] कोई परिव्राजक अपने पेट को लोहपट्ट से बांधकर और हाथ में जम्बू वृक्ष की शाखा लेकर परिभ्रमण करता था। प्रश्न करने पर वह उत्तर देता– "ज्ञान से मेरा पेट फट रहा है, इसलिए मैंने पेट पर लोहे का पट्टा बांधा है, और इस जम्बूद्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नहीं, इसलिए मैंने जम्बू की शाखा ग्रहण की है"[२०]। धर्म और नीतिशास्त्र के कलाकारों में कथिकों का नाम उल्लेखनीय है। ये लोग तरंगवती, मलयवती आदि आख्यायिकाओं, धूर्ताख्यान आदि आख्यानकों, गीतपद, शृंगारकाव्य, वासुदेव चरित और चेतक कथा आदि कथाओं तथा धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कथाओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि का प्रतिपादन कर निम्न वर्ग के लोगों में घूम-घूमकर धर्म और दर्शन का प्रचार करते थे।[२१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में शिक्षा का अत्यन्त महत्त्व था जिसके अनेक साहित्यिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

सन्दर्भ

१. अल्तेकर, -**एजूकेशन इन एंशिएण्ट इण्डिया**, पृ. ३२६।
२. **राजप्रश्नीयसूत्र** १९०, पृ. ३२८।
३. **उत्तराध्ययन,** पृ. ४९।
४. **आवश्यक निर्युक्ति** – गाथा २२
५. **उत्तराध्ययन टीका** ३/६५-आ।
६. **उत्तराध्ययनसूत्र** – १२/१८-१९ आदि।
७. **उत्तराध्ययनटीका** ४, पृ. ८३ अ दि।
८. **उत्तराध्ययनटीका** १८, पृ. २४३१
९. **व्यवहारभाष्य** ७/२८१-३१९।
१०. **आवश्यकचूर्णि,** पृ. २१५, **वसुदेवहिण्डी** पृ. १८२।
११. **व्याख्याप्रज्ञप्ति** २.१, **औपपातिकसूत्र** ३८, पृ. १७२।
१२. **मिलिन्दप्रश्न,** पृ. ३ में १९ शिल्पों का उल्लेख।
१३. मंत्री और आसुरुक्ख का उल्लेख **व्यवहारभाष्य** – पृ. १३२ में मिलता है।
१४. **सूत्रकृतांग** २/३.३०।
१५. **सूत्रकृतांग** २/२.३०।
१६. देखिए- **ज्ञाताधर्मकथा** १, पृ. २१; **समवायांग** पृ. ७७- अ; **औपपातिकसूत्र** ४० पृ. १९६, **राजप्रश्नीयसूत्र** २११; **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका** २, पृ. १३६ आदि।
१७. **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,** डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पृ. २९६
१८. **कल्पसूत्रटीका,** ४, पृ. ९०-आ।
१९. **बृहत्कल्पभाष्य** ४/५१७९, ५४२६-५४३१, व्यवहारभाष्य १, पृ. ४७-अ आदि।
२०. **उत्तराध्ययनटीका** ३,पृ. ७२।
२१. **बृहत्कल्पभाष्य** १/२५६४।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन दर्शन का कारणता सिद्धान्त

डॉ. श्रुति दुबे*

जैन दर्शन मूलतः एक समन्वयवादी दर्शन है। उसकी दृष्टि अनेकान्तवादी है। अपने सापेक्षवादी और अनेकान्तवादी दृष्टि से जैन दर्शन ने सत्-असत्, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि प्रत्ययों के बीच समन्वय स्थापित किया है। जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद का समर्थन 'नयवाद' और 'स्याद्वाद' इन दो सिद्धान्तों के माध्यम से किया है।

अनेकान्तवाद की तात्त्विक दृष्टि यह है कि सभी वस्तुओं के अनेक धर्म हैं। तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं। जैसे घट में भाव रूप धर्म घटगत रूप, क्रिया आदि हैं तथा अभाव रूप धर्म घट के अतिरिक्त संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं उनका घट में अभाव है। इस प्रकार वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। इसी प्रकार जैनदर्शन का कारणता विषयक सिद्धान्त भी समन्वयवादी है, जिसे सदसत्कार्यवाद कहा गया है।[१]

सद्सत्कार्यवाद में कारणता विषयक विभिन्न समस्याओं का समाधान अनेकान्तवादी दृष्टि से किया गया है, जो जैनदर्शन के 'सत्' के स्वरूप से स्वतः निगमित होता है। इस दर्शन के अनुसार सभी सत् या पदार्थ उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य लक्षण वाले हैं।[२] वस्तुतः प्रत्येक वस्तु के दो अंश होते हैं– एक अंश तो तीनों कालों में शाश्वत रहता है और दूसरा अंश उत्पाद, व्ययशील होने के कारण परिणामी होता है। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु 'ध्रौव्यात्मक' है और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद-व्ययात्मक या अस्थिर कहलाती है। इन दो अंशों में से किसी की ओर दृष्टि जाने और दूसरी ओर न जाने से वस्तु केवल स्थिर रूप या केवल अस्थिर रूप प्रतीत होती है, किन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप की अवगति उसके दोनों अंशों के ज्ञान से ही सम्भव है।

किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि एक ही वस्तु में स्थिरत्व और अस्थिरत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों अंश शीत और उष्ण की भाँति परस्पर विरुद्ध होने से एक ही समय में कैसे स्थित रह सकते हैं? इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि जैनदर्शन परिवर्तनरहित सदैव एकरूप रहने वाली वस्तु को नित्य नहीं मानता अपितु उसकी दृष्टि में अपनी जाति से च्युत न होना ही 'नित्यत्व' का लक्षण है। अनुभव से भी परिणामी नित्यता के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जैसे स्वर्णपिण्ड कुण्डल या कंगन आदि में परिणामित होते हुये भी अपने स्वर्णत्व से च्युत नहीं होता। यहाँ सत् को परिणामी नित्य कहा जा सकता है। परिणामी नित्यता की अवधारणा जैनियों के इस कथन से भी उभर कर सामने आती है जब वे प्रत्येक वस्तु में गुण और पर्याय रूप दो धर्मों की अवस्थिति मानते हैं।[३] यहाँ गुण किसी वस्तु का अनिवार्य धर्म है जबकि पर्याय उस वस्तु का आगन्तुक या परिवर्तनशील धर्म है। इन्हीं पर्यायों की उत्पत्ति व विनाश से द्रव्य में परिवर्तन दिखाई पड़ता है, किन्तु द्रव्य की पहचान उसके अनिवार्य धर्म से बनी रहती है।

जैन दार्शनिकों ने कारणता की व्याख्या दो दृष्टि से की है– (१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिक नय। जैन द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से 'सत्यकार्यवाद और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से 'असत्कार्यवाद' को स्वीकार करते हैं। जैन– सांख्य के इस मत से सहमत हैं कि 'असत्' की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यथा 'मृत्तिका' से घट की उत्पत्ति होती है। मृत्तिका (द्रव्य) की दृष्टि से घट (कार्य) नवीन उत्पत्ति नहीं है। घट के नष्ट हो जाने पर भी मृत्तिका का नाश नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि से न असत् की उत्पत्ति होती है और न ही सत् का विनाश होता है।[४] इसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से 'असत्' की उत्पत्ति होती है।

यथा मृत्तिका में घट अपने आकार-प्रकार से नहीं रहता, उसकी नवीन उत्पत्ति होती है और उत्पन्न हुये घट का विनाश भी सम्भव है। इस तरह हम देखते हैं कि द्रव्य रूप में कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी सत् होता है और इस द्रव्य रूप में उसकी उपलब्धि भी होती है। जबकि पर्याय रूप में कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होती है और इस रूप में उस समय उसकी उपलब्धि नहीं होती। पर्याय का पूर्व में सद्भाव न होने से, पर्याय रूप में कार्य का आद्यक्षण सम्भव होने से आद्यक्षण सम्बन्ध रूप पदार्थ की उपपत्ति में भी कोई बाधा नहीं हो सकती। जैसे घट के दो अंश होते हैं– एक मृत्तिका और दूसरा जलाहरण की क्षमता का सम्पादक उसका आकार। मृत्तिका के रूप में घट पहले से ही विद्यमान होता है, अतः इस अर्थ में जैन दार्शनिक सत्कार्यवाद के इस मत से सहमत हैं कि सत् का अभाव नहीं हो सकता और असत् का उत्पाद नहीं हो सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"भावस्य सतो हि द्रव्यस्य न द्रव्यत्वेन विनाशः अभावस्यासतोऽन्यद्रव्यस्य न द्रव्यत्वेनोत्पादः। किन्तु भावा सन्ति द्रव्याणि सदच्छेदमशदुत्पादं चान्तरेणैव गुणपर्यायेषु विनाशमुत्पादं चारम्भन्ते।"[५]

अर्थात् जो वस्तु है उसका नाश नहीं है और जो वस्तु नहीं है उसका उत्पाद नहीं है। इस कारण द्रव्यार्थिक नय से न तो द्रव्य उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है और जो त्रिकाल अविनाशी द्रव्य के उत्पाद व्यय होते हैं, उन्हें पर्यायार्थिक नय की विवक्षा कर गुणपर्यायों में जानना चाहिये। जैसे घट अपनें आकार रूप में मृत्तिका में पहले से विद्यमान नहीं रहता; किन्तु जिस क्षण इस आकार का उदय होता है, वह आकारात्मक घट का आद्यक्षण है। यह उत्पत्ति एक नवीन उत्पत्ति है क्योंकि यह अपने कारण में उत्पत्ति के पूर्व नहीं थी।[६] ध्यातव्य है कि जैन दार्शनिकों के अनुसार उपादान कारण का सम्बन्ध द्रव्य से है और निमित्त कारण का सम्बन्ध पर्याय से है। इस तरह जैन दार्शनिक 'सत्' के स्वरूप के आधार पर उत्पत्ति पूर्व कार्य के कारण में सदसत् का सम्यक् निरूपण करते हैं और यही कारण है कि कारणता के सम्बन्ध में 'सत्कार्यवाद' और 'असत्कार्य' को एकांगी बताते हुये अपना समन्वयात्मक सिद्धान्त 'सदसत्कार्यवाद' प्रस्तुत करते हैं।

जैनदर्शन के कारण मात्र अनन्यथासिद्ध नियतपूर्ववर्ती ही नहीं अपितु उसमें अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् कार्य की उत्पत्ति की शक्ति का विचार भी निहित है। इस दर्शन के अनुसार कार्य अपने कारण में शक्तिरूप से विद्यमान है। इस शक्ति के कारण ही नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति होती है।[७] स्याद्वादी जैन दर्शन में कारण में विद्यमान शक्ति को शक्तिमान् से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न माना गया है।[८] शक्तिमान् के प्रत्यक्ष होने पर भी शक्ति का प्रत्यक्ष न होने से वह भिन्न स्वरूप है और शक्तिमान से पृथक् अस्तित्व न रखने के कारण वह अभिन्न स्वरूपा भी है। यह शक्ति द्रव्य के अनादि होने से, द्रव्य शक्ति के रूप में नित्य है और पर्याय के सादि और सान्त होने से पर्यायशक्ति के रूप में अनित्य है। किसी भी कार्य की निष्पत्ति के लिये दोनों शक्तियों का सम्मिलित होना अनिवार्य है। क्योंकि यदि मात्र द्रव्य शक्ति से कार्य का निष्पादन स्वीकार किया जाये तब द्रव्य शक्ति के नित्य होने से सदैव कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जबकि द्रव्य की कार्यरूप में परिणति अन्य सहकारी कारणों की अपेक्षा से होती है। स्पष्ट है कि पर्याय शक्ति के बिना कार्य नहीं होता, किन्तु पर्याय शक्ति के जो सहकारी कारण हैं वे सर्वदा स्वयं उपस्थित नहीं होते क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्याय शक्ति में जिस सहकारी की अपेक्षा है वह एक नहीं अनेक हैं और ये अनेक कारण स्वयं कार्य की उत्पत्ति में सक्रिय नहीं होते अपितु इन्हें पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा होती है, इसीलिये इस मत में पदार्थों में अनेक शक्तियाँ स्वीकार की गयी हैं– 'तत्रार्थानाम नैकेव शक्तिः।''[९] कार्यों में अनेकता या विविधता का कारण-कारणों में शक्ति भेद ही है।

जैनदर्शन में द्रव्य स्वभावतः परिणमनशील माना गया है–

सत्ता सर्वपदस्था . सविश्वरूपा अनन्तपर्याया ।।
भङ्गोत्पादध्रौव्यात्मिका सत्प्रतिपक्षा भवत्येका ।।[१०]

परन्तु निरन्तर परिणमनशील होते हुये भी वह अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता। वस्तुतः निरन्तर परिणमनशील द्रव्य में जब प्रतिक्षण परिणाम होता है दब उसमें सर्वदा द्रव्यान्तर की उत्पत्ति तथा नवीन परिणमन स्वीकार करना होगा, परन्तु द्रव्य बाह्य निमित्त की अपेक्षा से ही भिन्न रूप में परिणत होता है, सर्वथा नहीं। जैन दर्शन में उत्पत्ति दो प्रकार की स्वीकार की गयी है– (१) नैसर्गिक और प्रायोगिक। नैसर्गिक उत्पत्ति के भी दो प्रकार हैं– (१) समुदायकृत एवं (२) एकत्विक। यथा बादल, पर्वत आदि बिना किसी की सहायता के अपने समुदायों द्वारा बनते हैं अतः समुदायकृत उत्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं। आकाश, धर्म और अधर्म आदि एकत्विक उत्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं। नवीन उत्पाद न होने पर भी इनमें सदृश परिणमन रूप क्रिया होती रहती है। उत्पत्ति का द्वितीय प्रकार 'प्रायोगिक' है जिसे समुदायवाद भी कहते हैं। जिसके अनुसार उत्पत्ति समुदाय के द्वारा होती है, किसी एक के द्वारा नहीं।[११] जैन दर्शन के अनुसार नये द्रव्य स्कन्ध । (दो या दो से अधिक परमाणुओं) के द्वारा उत्पन्न होते हैं। परमाणुओं का समुच्चय होने से इसे समुदाय कहा गया है और गुणों के नवीन रूप में प्रस्तुत होने से नवीन वस्तु।

इस प्रकार जैन दर्शन में उत्पत्ति का तात्पर्य न तो सर्वथा नवीन वस्तु का अपलाप करना है और न ही वस्तुमात्र को सर्वथा नवीन बना कर उत्पत्ति पूर्व उसके किसी प्रकार के अस्तित्व को नकारना है अपितु यही उत्पत्ति का तात्पर्य मूलद्रव्य रूप में स्थित रहते हुये आकार की दृष्टि से नवीन वस्तु का उत्पाद है।

जैनदर्शन में सत् का परिणाम भी दो प्रकार का स्वीकार किया गया है– पहला स्वभावात्मक है, इस परिणाम में पूर्व पर्याय के नष्ट होने पर जो उत्तर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्याय उत्पन्न होता है वह सदृश और स्वभावात्मक होता है, उसमें विलक्षणता नहीं आती। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये द्रव्य स्वरूप में परिणमन करते हैं।[१२] दूसरा विभावरूप परिणाम है। यह विभावरूप परिणमन की क्रिया जीव और पुद्गल में होती है। इसमें पूर्व पर्याय के नष्ट हो जाने पर जो उत्तर पर्याय उत्पन्न होता है वह उससे नया उत्पाद होता है, यह वस्तु में आकारगत परिवर्तन लाता है। उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में परिणाम, परिवर्तन तथा उत्पत्ति की व्याख्या द्रव्य, गुण और पर्याय के सम्बन्ध के आधार पर की गयी है।

कारण और कार्य के सम्बन्ध में जैन दर्शन न तो पूर्णरूपेण भेदवाद का समर्थन करता है और न अभेदवाद का अपितु तन्तु और पट के समान कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद को स्वीकार करता है। उनके अनुसार कारण और कार्य में न तादात्म्य सम्बन्ध है और न समवाय। अपितु कारण और कार्य का यह स्वभाव है कि वे एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। इसलिये जैन दार्शनिक कारण-कार्य में भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं। उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जैन दार्शनिक सत् के स्वरूप के आधार पर (गुण और पर्याय के माध्यम से) उत्पत्ति पूर्व कार्य के कारण में सद्सत् का सम्यक् निरूपण करते हैं, यही कारण है कि इनके कारणता सिद्धान्त को सदसत्कार्यवाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

जैन मत की समालोचना एवं समाधान

आचार्य शङ्कर और शान्तरक्षित आदि ने जैन दर्शन सम्मत इस अनेकान्तवाद की आलोचना की है। उनके अनुसार दो विरोधी तत्त्व भेद और अभेद, सत् और असत्, नित्य और अनित्य एक ही आधार में नहीं रह सकते।[१३] सत्य और असत्य परस्पर में शीत और उष्ण की तरह प्रतिरोधी हैं अतः एक ही आश्रय में नहीं रह सकते।

श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने उक्त समस्त शङ्काओं का अत्यन्त तर्कपूर्ण समाधान प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम उन्होंने इन शङ्काओं को स्वयं पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा– "न च तन्तुपटादीनां कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम्; संशयादिदोषोपनिपातानुषङ्गात। 'केन खलु स्वरूपेण तेषां भेदः केन चाभेदः' इति संशयः। तथा 'यत्राभेदस्तत्र भेदस्य विरोधो यत्र च भेदस्तत्राभेदस्य शीतोष्णस्पर्शवत्' इति विरोधः। तथा– 'अभेदस्यैकत्वस्वभावस्यान्यधिकरणं भेदस्य चानेकस्वभावस्यान्यत्' इति वैयाधिकरण्यम्। तथा 'एकान्तेनैकात्मकत्वे यो दोषोऽनेकस्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावत्वाभावलक्षणोऽनेकात्मकत्वे चैकस्वभावत्वाभावलक्षणोऽनेकात्मकत्वे चैकस्वभाववत्वाभावलक्षणः सोत्राप्यनुषज्यते' इत्युभयदोषः। तथा 'यन स्वभावेनानार्थस्यैकस्वभावता तेनानेकस्वबावत्वस्यापि प्रसङ्गः, येन चानेकस्वभावता तेनैकस्वभावत्वस्यापि' इति सङ्करप्रसङ्गः। "सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः" इत्याभिधानात्। तथा 'येन स्वभावेनानेकत्वं नेनैकत्वं प्राप्नोति येन चैकत्वं नेनानेकत्वं' इति व्यतिकरः। 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" इति प्रसिद्धेः तथा 'येन रूपेण भेदस्तेन कथञ्चिद्भेदो येन चाभेदस्तेनापि कथञ्चिदभेदः' इत्यनवस्था। अतोऽप्रतिपत्तितोऽभावस्तत्त्वस्यानुषज्येतानेकान्तवादिनाम्। एवं सत्त्वाधनेकान्ताभ्युपगमेप्येतेष्टै दोषा द्रष्टयाः। तत्र तदात्मार्थः प्रमाणप्रमेयः।"[१४]

अर्थात् यदि तन्तु और वस्त्र इत्यादि पदार्थों में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानते हैं तो इस पक्ष में संशय, अभाव आदि दोष आते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भेदाभेदात्मक वस्तु में असाधारण आकार से निश्चय नहीं हो सकने के कारण किस स्वरूप से भेद है और किस स्वरूप से अभेद है– ऐसा संशय होता है। जहाँ अभेद है वहीं भेद का विरोध है और जहाँ भेद है वहाँ अभेद के रहने में विरोध है जैसे कि शीत और उष्ण का विरोध है। अभेद तो एकस्वभावी होने से अन्य अधिकरणभूत है और भेद अनेकस्वभावी होने से अन्य अधिकरण वाला है, यह वैयधिकरण्य दोष है तथा पट् आदि वस्तु को सर्वथा एकात्मक मानते हैं तो अनेक स्वभाव का अभाव होना रूप दोष आता है और सर्वथा अनेकात्मक माने तो एक स्वभाव का अभाव होना रूप दोष आता है, इस तरह उभय दोष उपस्थित होते हैं। जिस स्वभाव से एक स्वभावपना है उस स्वभाव से अनेक स्वभावपने का भी प्रसंग आता है एवं जिस स्वभाव से अनेक स्वभावपना है उस स्वभाव से एक स्वभावपना भी हो सकने से संकर नामक दूषण आता है, 'सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः संकरः'– ऐसा संकर दोष का लक्षण है। जिस स्वभाव से अनेकत्व है उससे एकत्व प्राप्त होता है और जिससे एकत्व है उससे अनेकत्व प्राप्त है, अतः व्यतिकरदोष उपस्थित होता है, 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः'– ऐसा व्यतिकर दोष का लक्षण है तथा जिस रूप से भेद है उससे कथञ्चित् भेद है और जिस रूप से भेद है उससे कथञ्चित् अभेद है, अतः यह अनवस्था नामक दोष आया। इस तरह वस्तु के स्वरूप की अप्रतिपत्ति होने से उसका अन्त में जाकर अभाव ही हो जाता है, इस प्रकार अनेकान्तवादी जैन के यहाँ माने हुए तत्त्व में संशयादि आठों दूषण आते हैं। इसी तरह वस्तु को कथञ्चित् सत् और कथञ्चित् असत् रूप मानने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में ये ही आठ दोष आते हैं, अतः सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण द्वारा ग्राह्य नहीं होता है।

इस पूर्वपक्ष को उपस्थापित कर इनका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कथञ्चित् भेदाभेदात्मकत्व होने को ही तादात्म्य कहा जाता है, क्योंकि पर्यायपने से वस्तु में भेद है[१५] और द्रव्यपने से अभेद है, द्रव्य और पर्याय स्वभाव ही भेदाभेदरूप हुआ करते हैं, वस्तु न द्रव्यमात्र है और न पर्यायमात्र ही है; किन्तु उभयात्मक समुदाय ही वस्तु है। द्रव्य और पर्याय में अकेले-अकेले को वस्तु नहीं कहते और न अवस्तु ही कहते हैं अपितु वस्तु का एक देश कहते हैं, जैसे समुद्र का अंश न समुद्र है और न असमुद्र ही है; किन्तु समुद्र का एक देश है।

वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने से संशय, विरोध आदि दोष आते हैं, ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि भेद और अभेद का परस्पर में विरोध भी नहीं है। वस्तु अपने धर्म की अपेक्षा सत्वरूप और पर की अपेक्षा असत्वरूप कहलाती है, वैसे ही द्रव्य की अपेक्षा अभेदरूप और पर्याय की अपेक्षा भेदरूप कहलाती है। अतः भेदाभेदात्मक होने में कोई विरोध नहीं है।[१६] यदि ऐसा उपलब्ध न होता तो विरोध आता। वस्तु में स्वस्वरूपादि की अपेक्षा सत्व मानने पर उसी समय पररूपादि की अपेक्षा असत्व मानने का अनुपलम्भ नहीं हैं, क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा भावरूप ही नहीं हुआ करता और न ही वस्तु सर्वथा अभाव रूप ही हुआ करती है। एक ही वस्तु में अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य, एक-अनेक इत्यादि विरोधी धर्म साक्षात् प्रतीति में आते हैं, अतः उनको उसी तरह मानना चाहिए। विरोध तब होता है जब वस्तु वैसी प्रतिभासित न हो।

भेद और अभेद, सत्व-असत्व इत्यादि धर्मों को एकत्र मानने में वैयधिकरण्य नामक दोष भी नहीं आता,[१७] क्योंकि जैन भेद और अभेद या सत्त्व और असत्त्व को परस्पर की अपेक्षा से रहित नहीं मानते अर्थात् ये दोनों धर्म-परस्पर निरपेक्ष होकर एकत्व रूप रहते हैं– ऐसा नहीं मानते जिससे कि उभयदोष आये। जैन दार्शनिक तो सापेक्षभूत सत्वासत्व में ही एकत्व स्वीकार करते हैं और वस्तु में ऐसा सापेक्ष सत्त्व असत्वादि की प्रतीति भी भली प्रकार से होती है। भेद-अभेद आदि को एकत्र मानने में संकर व्यतिकर नामक दोष मानना भी अयुक्त है, क्योंकि वस्तु में स्वरूप से ही उन दोनों की प्रतीति आ रही है।[१८] अनवस्था दोष भी भेदाभेदात्मक वस्तु में दिखायी नहीं देता, क्योंकि धर्मी पदार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को ही अनेकरूपत्व माना गया है न कि धर्मों को तथा वस्तु का जो अभेदपना है वह धर्मी ही है, धर्म तो भेदरूप ही है– ऐसा मानने में कोई अनवस्था दोष भी नहीं होगा। अभाव नामक दोष तो जैनाभिमत तत्त्व से दूर से ही निराकृत हो जाता है, क्योंकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है इसकी प्रतीति अनुभवसिद्ध है। इस प्रकार विविध विरोधी मतों का खण्डन कर जैन सद्सत्कार्यवाद की स्थापना करते हैं।

सन्दर्भ

१. **शास्त्रावार्तासमुच्चय**, पृ. १४२।
२. उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं सत्। **तत्त्वार्थसूत्र**, ५.२९
३. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, **तत्त्वार्थसूत्र**, १५.३७।
४. (क) भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो। **पञ्चास्तिकाय**, श्लोक १५
   (ख) एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो। वही, श्लोक १९।
५. **पञ्चास्तिकाय तत्त्वदीपिकातात्पर्यवृत्ति**, पृ. ३३।
६. **शास्त्रवार्तासमुच्चय**, पृ. १४४।
७. **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, (प्रथम भाग) पृ. ५३०।
८. वही, (प्रथम भाग) पृ. ५४-५४१।
९. वही, (प्रथम भाग) पृ. ५४२।
१०. सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणतपज्जाया।
    भंगुप्पादधुक्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ।। **पंचास्तिकाय**, ८।
११. **सन्मतिप्रकरण**, ३.३४।
१२. **तत्त्वार्थसूत्र**, ५.१-६
१३. **ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य**, २.२.२३।
१४. **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, भाग ३, पृ. १८७-१८८
१५. वस्तुनो हि भेदः पर्यायरूपतैव, अभेदस्तु द्रव्यरूपत्वमेव, भेदाभेदौ तु द्रव्यपर्यायस्वभावावेव। न खलु द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वा वस्तु, उभयात्मनः समुदायस्य वस्तुत्वात्। **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, भाग ३, पृ. २००।
१६. **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, भाग ३, पृ. २०२।
१७. नापि वैयधिकरण्यम्, निर्बाध बोधे भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा एकाधारतया प्रतीयमानत्वात्। **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, तदेव, पृ. २११।
१८. **तदेव**, पृ. २१२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन दर्शन में ईश्वर विचार

डॉ० सुधा जैन*

भारतीय संस्कृति की दो धाराएं वैदिक तथा श्रमण प्राचीन काल से अबाधगति से प्रवाहित हो रही हैं। श्रमणधारा की भी दो शाखाएं हैं— जैन तथा बौद्ध। इन सबने भारतीय जीवन को जो धार्मिकता, दार्शनिकता तथा सामाजिकता दी है इससे वे विश्व के लिए आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। वैदिकधारा को ब्राह्मण परम्परा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें ब्राह्मण ग्रन्थ तथा ब्राह्मण वर्ग की प्रधानता है। इसी तरह श्रमणधारा को क्षत्रिय परम्परा कहते हैं, क्योंकि इसमें क्षत्रियों की प्रधानता है। जैन परम्परा के भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक २४ (चौबीस) तीर्थंकरों का प्रादुर्भाव क्षत्रिय कुल में ही हुआ था। भगवान बुद्ध भी क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे। किन्तु वैदिक तथा श्रमण परम्पराओं में अन्तर यह है कि वैदिक परम्परा में ब्राह्मणों की प्रधानता जन्मगत है, जबकि श्रमण परम्परा में क्षत्रियों की प्रधानता कर्मगत है।

वैदिक परम्परा ईश्वरवादी है। इसमें ईश्वर को सृष्टिकर्ता, पालनकर्त्ता तथा संहारकर्ता माना जाता है। विश्व में जो कुछ भी होता है, ईश्वर की इच्छा से होता है। यदि कोई तिनका भी हिलता है तो यह कहा जाता है कि उसमें भी ईश्वर की इच्छा है। वैदिक परम्परा के प्रसिद्ध सन्त गोस्वामी तुलसीदास जी की रचना रामचरितमानस की प्रसिद्ध उक्ति है[१]—

"सबहि नचावत राम गोसाईं।
नाचत नर मरकट की नाईं।।"

अर्थात् स्वामी रामचन्द्र सबको नचाते हैं और मनुष्य उस तरह से नाचते हैं, जिस तरह कोई मदारी बन्दर को नचाता है। श्रमण मतावलम्बी अनीश्वरवादी हैं, वे यह नहीं स्वीकार करते कि मनुष्य जिसके पास हृदय की विशालता,

* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई. टी. आई. रोड, करौंदी, वाराणसी-५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मस्तिष्क की प्रखरता तथा शरीर की सबलता होती है, किसी के नचाने पर बन्दर की तरह नाचे? क्योंकि विश्व की प्रक्रिया में मनुष्य सबसे विकसित प्राणी है। अतएव जो कुछ वह करता है, वह स्वेच्छा से करता है।

श्रमण परम्परावादी खासतौर से जैन मतावलम्बी ईश्वर के अवतारवाद को व्यंगात्मक ढ़ंग से उतारवाद कहते हैं। क्योंकि ईश्वर अपने उस लोक से जो इह-लोक से परे माना जाता है, अवतरित होकर नीचे की ओर उतरता है। मनुष्य की प्रगतिशीलता ऊपर की ओर बढ़ने में होती है, नीचे की ओर उतरने में नहीं। वह अपनी साधना, त्याग, तपस्या आदि से स्वयं आध्यात्मिकता के उतुंग शिखर पर पहुँचता है। उसे किसी परे शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है। अतः जैन चिन्तन ईश्वर की सत्ता का खण्डन करता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'अन्ययोगव्यवच्छेद- द्वात्रिंशिका' में, जिसकी टीका आचार्य मल्लिषेण ने की है और वह 'स्याद्वाद मंजरी' के नाम से प्रसिद्ध है,[२] में ईश्वरवाद का प्रबल विरोध किया है। उन्होंने ईश्वर के विभिन्न लक्षणों को अपने सुतर्क के आधार पर इस तरह खण्डित किया है कि उससे ईश्वरवाद का भव्य प्रासाद धराशायी होते दिखाई पड़ता है। इन्होंने पूर्व पक्ष के रूप में ईश्वर के लक्षणों को प्रस्तुत किया है, फिर उन्हें दोषग्रस्त प्रमाणित किया है जो इस प्रकार है—

''कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।

इमा कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ।।[३]

अर्थात् ईश्वर जगत् का कर्ता है, वह एक है, सर्वव्यापी है, स्वतंत्र है और नित्य है। एक-एक करके इन लक्षणों का खण्डन आचार्य हेमचन्द्र जी ने इस प्रकार किया है और इस तरह बताया है—

१. ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं हैं:[४]— ईश्वरवादी यह मानते हैं कि किसी भी कार्य का कोई न कोई सृष्टिकर्ता या निमित्तकर्ता अवश्य होता है, जैसे- बढ़ई लकड़ी से कुर्सी बनाता है। इसमें कुर्सी का उपादान कारण तो लकड़ी है, किन्तु निमित्त कारण बढ़ई है। इसी तरह चर्मकार जूता बनाता है, स्वर्णकार आभूषण बनाता है, जुलाहा कपड़ा बनाता है इत्यादि। यह जगत् भी एक बहुत बड़ा कार्य है इसलिए इसका भी कोई निमित्त कारण अवश्य है, क्योंकि जगत् का कार्य या जगत् की सृष्टि बहुत बड़ा कार्य है। जिसे साधारण क्षमता वाला व्यक्ति नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर सकता। अतः जगत् का कर्ता कोई सर्वशक्तिमान तत्त्व ही हो सकता है और वह कोई दूसरा नहीं है, बल्कि वह ईश्वर ही है। ईश्वर के कर्तृत्व को न मानते हुए दो तर्क दिए गए हैं—

क. ईश्वर यदि इस जगत् का सृष्टिकर्ता है और यदि सबका कोई कर्ता अवश्य होता है तो ईश्वर का सृष्टिकर्ता कौन है? कहा जा सकता है कि ईश्वर का सृष्टिकर्ता या निमित्त कारण कोई दूसरा ईश्वर है, फिर वही प्रश्न दूसरे ईश्वर के साथ भी उपस्थित होता है और इस क्रम में तीसरा, चौथा, पाँचवाँ ईश्वर आता जायेगा। जिसके कारण कोई अवस्था या स्थिरता नहीं प्राप्त होगी और उससे अनवस्था दोष लागू हो जायेगा। दर्शन के क्षेत्र में अनवस्था दोष तथा अनोन्याश्रय दोष ऐसे होते हैं जो जिस किसी सिद्धान्त पर लागू हो जाते हैं उसे खण्डित कर देते हैं। अतः यह कहना कि ईश्वर जगत् का कर्ता है, खण्डित हो जाता है।

ख. सामान्यतः हम लोग यह देखते हैं कि बढ़ई किसी स्थान पर लकड़ी से कुर्सी बना रहा है। चर्मकार किसी स्थान पर चमड़ा से जूता बना रहा है। लेकिन ऐसा किसी ने नहीं देखा कि अमुक स्थान पर अमुक सामग्री से ईश्वर जगत् की रचना कर रहा है। यहाँ पर तर्क का आधार उसे दिया जा रहा है जो सबकी नजरों के सामने है। परन्तु प्रमाणित उसे किया जा रहा है जिसे कभी किसी ने नहीं देखा। अतः यह भी बहुत बड़ा दोष है, जिससे ईश्वर का कर्तृत्व खण्डित होता है।

२. ईश्वर एक नहीं है:[५]— इस लक्षण को प्रमाणित करने के लिए ईश्वरवादियों ने यह तर्क दिया है कि जिस कार्य में एकता तथा क्रमबद्धता होती है, उसका कर्ता एक होता है। अनेक कर्ताओं के होने पर कार्य में न तो एकता होती है और न क्रमबद्धता ही। जगत् में क्योंकि क्रमबद्धता और एकता देखी जाती है इसलिए इसका कर्ता एक है अर्थात् ईश्वर एक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इस तर्क का खण्डन करते हुए कहा है कि अनेक कर्ताओं के होते हुए भी कार्य में एकता और क्रमबद्धता होती है। जैसे– मधुमक्खी का छत्ता। अनेक मधुमक्खियां मिलकर अपने छत्ते का निर्माण करती हैं तथा व्यवस्थित ढंग से उसमें मधु संचय करती हैं। उसी तरह अनेक चींटियां पंक्तिबद्ध होकर के चलती हैं। अपने स्थान पर खाने की वस्तुएं एकत्रित करती हैं। मधुमक्खियों में तथा चींटियों के कार्यों में निश्चित रूप से एकता तथा क्रमबद्धता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का बोध होता है। अतः यह कहना सर्वथा गलत है कि एक कर्ता होने से ही कार्य में एकता और क्रमबद्धता होती है और इसके आधार पर यह मान लेना भी गलत है कि जगत् का कर्ता यानी ईश्वर एक है, क्योंकि उसके कार्य में एकता और क्रमबद्धता है।

३. ईश्वर सर्वव्यापी नहीं है:[६]—ऐसा कहने का मतलब यह है कि ईश्वर सब जगह है। कोई जगह ऐसी नहीं है जहां ईश्वर नहीं है। किन्तु ईश्वरवादी जब ईश्वर को इस जगत् का कर्ता मानते हैं तो निश्चित रूप से ईश्वर और उसके कार्य अलग-अलग स्थानों पर होंगे, क्योंकि निमित्त कारण या कर्ता हमेशा अपने कार्य से अलग होता है जैसे-बढ़ई कुर्सी से अलग होता है। जिस स्थान पर बढ़ई होता है ठीक उसी स्थान पर कुर्सी नहीं होती। उसी तरह यदि ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण है तो अवश्य ही वह अपने कार्य यानी जगत् से अलग है अर्थात् वह सर्वव्यापी नहीं है।

४. ईश्वर स्वतंत्र नहीं है:[७]— इस लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर जो कुछ करता है अपनी इच्छा से करता है। उसकी कोई विवशता नहीं है। ईश्वर इस जगत् का सृष्टिकर्ता है, इसलिए जगत् में जो भी सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, शु ा-अशुभ है वे सभी ईश्वरकृत हैं। ईश्वर सुख पैदा करता है, शुभ पैदा करता है, यह तो ठीक मालूम होता है, किन्तु वह दुःख, दारिद्र, अशुभ क्यों पैदा करता है। इनसे तो प्राणी (मनुष्य) दुःखित ही होते हैं। ईश्वर को परम दयालु, दया का सागर, दीन-वत्सल आदि तरह-तरह के विशेषणों से सम्बोधित किया जाता है। यदि वह दयालु है तो दुःख क्यों पैदा करता है, अशुभ क्यों उत्पन्न करता है। ईश्वर यदि दुःख पैदा करता है तो इससे यह ज्ञात होता है कि वह दयालु नहीं है, कृपालु नहीं है। किन्तु ईश्वरवादी इस बात से सहमत नहीं होते कि ईश्वर दयालु नही हैं। यदि ईश्वरवादियों की यह बात मान ली जाये कि ईश्वर दयालु है, परम कृपालु है तो इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि दयालु होते हुए भी वह दुःख, दारिद्र, अशुभ उत्पन्न करता है। यानी ऐसा करने के लिए वह विवश है। यदि वह विवश होकर के दुःख, दारिद्र उत्पन्न करता है तो वह स्वतंत्र नहीं है।

५. ईश्वर नित्य नहीं है:[८] — ईश्वरवादी ईश्वर को नित्य कहते हैं। क्योंकि ईश्वर के अनित्य होने पर उसके जन्म, मरण, माता-पिता आदि की कई समस्याएं उठ खड़ी हो सकती हैं। अतः इन समस्याओं के समाधान के लिए ईश्वरवादी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगों ने उसे नित्य घोषित किया है। किन्तु इसका खण्डन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने जो तर्क प्रस्तुत किया है, उसमें पहली बात यह आती है कि ईश्वरवाद में ईश्वर को जगत् का कर्ता माना गया है। किसी भी कार्य का कर्ता तब निर्धारित होता है जब कार्य समाप्त हो जाता है। कार्य समाप्त होने से पूर्व किसी भी हालत में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका कर्ता कौन हैं, क्योंकि कार्य पूरा होने से पहले उसको सम्पन्न करने में एक नहीं, बल्कि अनेक लोगों के हाथ हों सकते हैं। अतएव कार्य समाप्त होने पर ही यह कहा जा सकता है कि उसका कर्ता एक है, या दो हैं, या अनेक (कितने) हैं। ईश्वर क्योंकि जगत् का कर्ता है इसलिए यह समझा जाता है कि ईश्वर का कार्य पूरा हो चुका है। अन्यथा उसे कर्ता नहीं कहा जाता। कार्य पूरा होने का मतलब है कार्य नित्य नहीं हैं, क्योंकि वह समाप्त हो चुका है। आगे एक सिद्धान्त यह भी आता है कि कार्य से ही कर्ता का बोध होता है, जैसे— **"अर्थ क्रियाकारित्वम् सत् ।"** सत् या व्यक्ति को वैसा ही समझा जाता है जैसा वह करता है, यानी जैसा उसका कार्य होता है। यदि उसका कार्य अनित्य है तो वह अनित्य समझा जायेगा। यदि कार्य नित्य है तो उसका कर्ता भी नित्य माना जायेगा। ईश्वर चूँकि इस जगत् का कर्ता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उसका कार्य समाप्त हो चुका है और नित्य नहीं है। इस आधार पर यह प्रमाणित होता है कि अनित्य कार्य या अनित्य सृष्टि का कर्ता ईश्वर भी अनित्य है।

जैन चिन्तन में जब ईश्वर का खण्डन हो जाता है तो उसके साथ ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वरवाद में तो सब कुछ ईश्वर करता है, क्योंकि वह सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है। किन्तु ईश्वर के अभाव में वे सारे कार्य कैसे होते हैं जिन्हें ईश्वर करता है? इसके समाधान स्वरूप जैन चिन्तन में यह कहा जाता है कि जगत् अनादिकाल से चला आ रहा है और चलता रहेगा। अतः इसमें किसी सृष्टिकर्ता या संहारकर्ता की जरूरत नहीं हैं। लेकिन एक समस्या यह रह जाती है कि जगत् की व्यवस्था कैसे होती है? इस सम्बन्ध में जैन चिन्तन यह बताता है कि जगत् में जो कुछ होता है वह कर्मानुसार होता है। यदि ऐसी बात है तो फिर प्रश्न सामने आता है कि क्या कर्म वही है, जो ईश्वर है। यदि ऐसा है तो यहाँ पर मात्र शब्द का अन्तर देखा जाता है। ईश्वरवादी जिसे ईश्वर कहते हैं, जैन दार्शनिक उसे कर्म कहते हैं। लेकिन इसका उत्तर देते हुए जैन मतावलम्बी यह मानते है कि ईश्वरकृत संसार में मानव स्वतंत्र नहीं है ईश्वर के अधीन है, जैसा कि प्रारम्भ में तुलसीदास जी की उक्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बताती है। किन्तु जैन परम्परा में कर्म करने में व्यक्ति पूर्णतः बँधा हुआ नहीं है। वह कर्म के फल भोगने में अवश्य बंधा हुआ है, किन्तु कर्म के उपार्जन में वह स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छा से कर्मोपार्जन कर सकता है। अतः ईश्वरवाद का ईश्वर और जैन दर्शन का कर्म एक नहीं कहा जा सकता।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता हैं कि किसी भी तथ्य के द्वारा ईश्वर का जगत्कर्ता या सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं होता है।

सन्दर्भ सूची–

१. श्री **रामचरितमानस**- टीकाकार- हनुमान प्रसाद पौद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर एक सौ इकसठवां संस्करण-वि. सं. २०५७, उत्तरकाण्ड ९८/१, पृष्ठ-९८५ तथा "नर मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद उस गावत।।"
— वही, किष्किन्धाकाण्ड - ६/१२, पृ.६७३।

२. आचार्य हेमचन्द्र ने वर्द्धमान महावीर की स्तुति रूप बत्तीस-बत्तीस श्लोक प्रमाण दो स्तवनों की भावपूर्ण विशिष्ट रचना की- प्रथम 'अयोगव्यवच्छेदस्तवन' और द्वितीय 'अन्ययोगव्यवच्छेदस्तवन'। स्याद्वाद की उपयोगिता सिद्ध करने का अभीष्ट साधन दूसरे स्तवन को जानकर श्री मल्लिषेण सूरि ने उस पर महत्त्वपूर्ण विस्तृत टीका **'स्याद्वादमंजरी'** लिखी है।

३. **स्याद्वादमंजरी**- सम्पादक- श्री पं.जवाहिरलाल जी शास्त्री तथा प. वंशीधर जी शास्त्री, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), प्रथम संस्करण-१९१०ई. सन्- श्लोक-६, पृष्ठ-२८ ।

४. **स्याद्वादमंजरी**- सम्पादक- डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, द्वितीय संस्करण-१९३५ ई. सन्, पृष्ठ-२८।

५. वही, पृष्ठ-३४।

६. वही, पृष्ठ-३७।

७. वही, तृतीय संस्करण-१९७० ई., पृष्ठ-३९।

८. वही, पृष्ठ-४०।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

अनेकान्तवाद एवं उसकी प्रासंगिकता

डॉ० मनोज कुमार तिवारी*

वर्तमान युग निर्विवाद रूप से विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने मानव सभ्यता एवं संस्कृति को प्रभावित कर उसे नई दिशा दी है, उसे एक नया विश्व-दर्शन दिया है। किन्तु वर्तमान मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। विज्ञान की प्रगति ने हमें नया जीवन अवश्य दिया है, परन्तु साथ ही साथ उसने आध्यात्मिक एवं नैतिक पक्ष को अवरुद्ध भी किया है। आज मानव ऐसे दोराहे पर खड़ा है, जहाँ एक ओर उसे मृत्यु का भय है तो दूसरी ओर शक्तिशाली बनने की प्रबल महत्त्वाकांक्षा। परिणामस्वरूप आज हम सामाजिक एवं राजनैतिक अव्यवस्था पाते हैं। इसने धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन को भी प्रभावित किया है। सभी जगह अव्यवस्था एवं विरोध का भाव देखा जाता है। इसका मुख्य कारण है - एक समन्वयवादी दृष्टिकोण का अभाव।

जैनों के अनुसार एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अनन्त धर्मों की उपपत्ति हो सकती है तथा तद्वस्तु-विषयक सभी दृष्टिकोण प्रसंगानुसार अपनी-अपनी परिस्थिति में सत्य हैं। सब कुछ सदा सब जगह है। यद्यपि दूसरे जीवों के दृश्य जगत् का ज्ञान हमकों प्राय: नहीं होता तो भी यदि हम चाहें तो विश्व के समस्त पदार्थों का, सभी स्थानों का, सभी कालों में अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ ब्रह्ममय हैं और ब्रह्म सदा सब जगह पूर्ण रूप से विद्यमान है। योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्म सब जगह है। इसलिए कहीं भी किसी वस्तु का उदय हो सकता है, और स्वप्न शक्ति द्वारा उसका अनुभव होता है। इसी प्रकार परम ब्रह्म जो सभी वस्तुओं का अंतिम स्वरूप है, में सदा ही, सब जगह, सर्वरूप से, सब कुछ वर्तमान रहता है। ब्रह्म में सब पदार्थ शक्ति-रूप से रहते हैं। जहाँ जिस पदार्थ के अनुभव की तीव्र भावना होती है, वहीं वह पदार्थ प्रकट हो जाता है।[1] यदि हम 'यह घट है', इस परामर्श

** दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्धी दार्शनिक धारणाओं की विवेचना करें तो हम देखेंगे कि उपनिषदों में घट के उपादान-कारण मृत्तिका को ही परम सत्य मानकर उसके सभी गुणों को नाम रूप की संज्ञा देकर सत्य से वंचित कर दिया गया। इसके विपरीत बौद्धों ने घट की पृष्ठभूमि में किसी चिरस्थायी एवं नित्य सत्य की कल्पना न करके उसे गुणों का पुंजीकरण मात्र माना है। जैनों के अनुसार यद्यपि घट के अस्तित्व-सम्बन्धी ये दोनों सिद्धान्त (उपनिषद् एवं बौद्ध) अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं तथापि उनकी कमी केवल इसमें है कि वे अपने विचारों को परम सत्य मानते हैं। प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसे तथ्य होते हैं जो सदैव अपरिवर्तनशील रहते हैं, उदाहरण के लिए घट में मृत्तिका अपरिवर्तनशील है। इसके अतिरिक्त उसमें कुछ गुण भी होते हैं जो सदैव नष्ट एवं उत्पन्न हुआ करते हैं, जैसे घट का रंग, रूप आदि। घट की उत्पत्ति के पूर्व मृत्तिका एक ढेले के रूप में थी, उसकी उत्पत्ति के बाद वह घट रूप हो गई तथा उसके ध्वंस के उपरान्त वही मृत्तिका घट के सैकड़ों टुकड़ों में परिवर्तित हो जायेगी । अतएव बौद्धों के समान यह कल्पना करना कि घट में कोई चिरस्थायी एवं अपरिवर्तनशील द्रव्य नहीं है, यह विचार जैनों के अनुसार अनुभव विरुद्ध है। इसी प्रकार उपनिषदों की यह धारणा कि गुणों की अपनी कोई सत्ता नहीं है, भ्रामक सिद्ध होता है क्योंकि गुणों के अभाव में वस्तु का अस्तित्व ही असम्भव है। जैनों के मत से औपनिषद् एवं बौद्ध दोनों सिद्धान्त एक विशेष दृष्टिकोण से अर्धसत्य मात्र हैं। भारतीय दर्शन में जैनों का यह सिद्धान्त अनेकान्तवाद के नाम से विख्यात है। किसी वस्तु के एक ही दृष्टिकोण को सर्वोपरि मानकर अन्य दृष्टिकोणों की अवहेलना करना एकान्तवाद है जिसका उदाहरण हमें औपनिषद् एवं बौद्ध दर्शनों में मिलता हैं। इसके विपरीत सभी दृष्टिकोणों की सत्यता में आस्था रखकर उन्हें तथ्य की विशेषाभिव्यक्ति मानना अनेकान्तवाद कहलाता है जो जैन दर्शन की प्रमुख विशेषता है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी है और जैनेतर सभी दर्शन एकान्तवादी हैं। स्पष्टत: अनेकान्तवाद समन्वयवाद का एक सबल प्रकार है।

भारतीय दर्शन में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त समन्वयात्मक पक्ष को बल प्रदान करने वाला एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जो जैन दर्शन की विशिष्ट देन है। यह जीवन के आचार-विचार, व्यवहार और तत्त्वचिन्तन दोनों को प्रभावित करता है। इस सिद्धान्त की उद्‌भावना में समता और सहिष्णुता की वह भावना नि:सन्देह सहायक रही है जो जैन दर्शन की आधारभूमि है। आचार और विचार के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव, दूसरे के कथनों या मान्यताओं में दोष देखना या विचार-स्वातन्त्र्य का विरोध आदि ऐसी परिस्थितियों को जन्म देते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं जो वैमनस्य तथा कटुता को बढ़ाती हैं।

इन विषम परिस्थितियों से निजात दिलाने का सही मार्ग अनेकान्तवाद है। यह सभी प्रकार के दुराग्रहों का उचित समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि देश-काल तथा अन्य परिस्थितियों के कारण सत् के विविध रूप सम्भव हैं। अतः जैन दर्शन ने 'अपनी अनेकान्त दृष्टि से विचारने की दिशा में उदारता, व्यापकता और सहिष्णुता का ऐसे पल्लवन किया है, जिससे व्यक्ति दूसरे के दृष्टिकोण को भी वास्तविक और तथ्यपूर्ण मान सकता है। जब तक हम अपने ही विचार और दृष्टिकोण को वास्तविक और सत्य मानते हैं तब तक दूसरे के प्रति आदर और प्रामाणिकता का भाव ही नहीं हो पाता। अतः अनेकान्त दृष्टि दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता और समादर का भाव उत्पन्न करती है।[२]

धर्म के क्षेत्र में जितने भी मतभेद या विवाद देखे जाते हैं उन सबके मूल में समन्वयवादी दृष्टिकोण का अभाव ही है। इन्हीं मतभेदों के कारण ही विश्व में कई युद्ध हुए हैं। आज भी इसी धार्मिक मतभेद ने अन्य कई दूसरे मतभेदों को भी उत्पन्न किया है।[३]

धर्म का मुख्य बिन्दु ईश्वर या अलौकिक सत्ता में विश्वास माना जाता है। व्यक्ति अपने को इसी सर्वशक्तिशाली ईश्वर या अलौकिक सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण करता है। परन्तु विभिन्न धर्मों में इस ईश्वर या अलौकिक सत्ता के सम्बन्ध में हमें कई मत देखने को मिलते हैं। जैसे कुछ लोगों के अनुसार ईश्वर एक है, तो कुछ लोग अनेक मानते हैं, कुछ लोग ईश्वर को इस विश्व का कर्ता मानते हैं, तो कुछ दूसरे लोग इसका विरोध करते हैं। कुछ ईश्वर को सर्वशक्तिशाली मानते हैं तो कुछ इस विश्व में वर्तमान बुराइयों को देखकर ईश्वर के सर्वशक्तिमान एवं दयालु होने खण्डन करते हैं।

इसी प्रकार विश्व के विभिन्न धर्म अपनी-अपनी उच्चता एवं सच्चाई की घोषणा करते हैं। परन्तु जहाँ तक लक्ष्यों का प्रश्न है, सभी धर्मों का उद्देश्य एक ही है, भले ही उस उद्देश्य या लक्ष्य तक पहुँचने के उनके रास्ते भिन्न-भिन्न हों। अतः धार्मिक भिन्नता का कारण यह है कि एक धर्म अपने द्वारा उस चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो मार्ग अपनाये हुए है उसी को सच्चा एवं उपयुक्त मानता है और अन्य धर्मों के द्वारा अपनाये गये मतों का खण्डन करता है।

अतः धार्मिक मतभेद का एकमात्र कारण है—विचारों में समन्वयशीलता का अभाव। जहाँ तक उनके अपने धर्म के प्रति निष्ठा एवं विश्वास का प्रश्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, वह सही है। परन्तु उन्हें दूसरे धर्मों के प्रति एक समन्वयपूर्ण विचार रखना होगा, अर्थात् दूसरे के मतों या धर्मों में भी सत्यता के अंश को स्वीकार करना होगा।[४] यह जैन दर्शन के अनेकान्तवादी विचार द्वारा ही सम्भव है। प्रत्येक धर्म को यह स्वीकार करना होगा कि उस 'सत्' को प्राप्त करने के अलग-अलग मार्ग हैं। सभी में आंशिक सत्यता है। ईश्वर या उस 'सत्' के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेदों का समाधान एक विवेक पर आधारित ईश्वर द्वारा हो सकता है। एक व्यक्ति, जो ईश्वर के साथ तदाकार होता है या मोक्ष को प्राप्त करता है, वह साधारण मानव के स्तर से ऊपर उठ जाता है। वह आनन्दमय जगत् को प्राप्त करता है। इस तरह का विचार ईसाई धर्म, जराथुस्त धर्म एवं अन्य भारतीय धर्मों में भी पाया जाता है। हिन्दू धर्म का विचार ठीक ही है कि कर्म के कारण-दु:ख उत्पन्न होते हैं, जबकि मानव स्वभावत: आनन्दमय प्रकृति का है। मानव स्वयं अपनी शुद्ध आत्मा के बल पर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। ईश्वर मानवीय आत्मा के रूप में एक दृष्टि से मुक्तिदाता है और दूसरी दृष्टि से नहीं भी है। ईश्वर के सम्बन्ध में या अन्य दूसरे विचारों के सम्बन्ध में इसी प्रकार के समन्वयवादी विचार द्वारा वर्तमान मतभेदों को दूर किया जा सकता है तथा विश्वशान्ति स्थापित की जा सकती है।[५]

आज धर्म का मूल विषय है- विश्वमानव के साथ साम्य का अनुभव करना, जिसे धर्म के बदले अध्यात्म कहना अधिक संगत होगा। अत: धर्म का मूल विषय ईश्वर नहीं; बल्कि आत्मिक साम्य का अनुभव करना है, जिसके लिए मानव मूल्यों एवं चरित्र का विकास आवश्यक है। जैन-दर्शन मानव मूल्यों एवं चरित्र के विकास पर बल देकर धर्म को अत्याधुनिक बना देता है।

इसी प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में भी अनेकान्तवाद की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत होती है। वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए अनेकान्त-दर्शन की महती आवश्यकता है। किसी वस्तु या बात को ठीक-ठीक न समझकर उस पर अपने हठपूर्ण विचार या एकान्त अभिनिवेश लादने से बड़े-बड़े अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है। एकान्त दृष्टि कहती है कि तत्त्व ऐसा ही है और अनेकान्त दृष्टि कहती है कि तत्त्व ऐसा भी है। यथार्थ में इस सारे झगड़े या विवाद की जड़ में 'ही' है। 'भी' समन्वय का प्रतीक है जो सत्य का प्रतिपादन और विवाद को शान्त करता है। इसके विपरीत 'ही' सत्य का संहार करता है तथा झगड़ों को शान्त करना तो दूर रहा, उल्टे झगड़ों को उत्पन्न करता है। एकान्तवाद मिथ्या अभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान लेता है और कहता है कि वस्तु इतनी ही है। यही नाना प्रकार के झगड़ों का मूल कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। जैनों का अनेकान्तवाद इस का परिहार करके उनमें समन्वय स्थापित करता है।

जैन दर्शन नैतिकता पर पर्याप्त बल देता है। वह शारीरिक अहिंसा एवं बौद्धिक अहिंसा दोनों पर जोर देता है। भारत में जितने भी सम्प्रदाय हुए हैं उनमें अहिंसा को उतना महत्त्व किसी ने नहीं दिया है, जितना जैन-दर्शन ने दिया है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी तरह से हिंसा में योग देना, जैन-दर्शन की मान्यताओं के विपरीत है। जैनों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि जैसे उनका जीवन प्यारा है वैसे ही दूसरों का जीवन भी प्यारा है। दूसरे शब्दों में, 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त होना चाहिए।[६] अपने जीवन के प्रति तो एक पशु भी सचेत रहता है। अतः मनुष्य को, जो विवेकपूर्ण है, अपने से इतर व्यक्ति के जीवन के प्रति भी सचेत रहना चाहिए। जैन दर्शन सिर्फ शारीरिक अहिंसा को ही आवश्यक नहीं मानता, बल्कि बौद्धिक अहिंसा पर भी विशेष रूप से बल देता है। यही बौद्धिक अहिंसा जैन दर्शन का 'अनेकान्तवाद' या 'स्याद्वाद' है। अपने जीवन तथा विचारों की सत्यता के साथ-साथ दूसरे के विचारों की सत्यता को भी स्वीकार करना होगा अर्थात् आंशिक मतों की संकीर्णता को त्यागकर एक समन्वयवादी विचार लाना होगा और यह जैन दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टि से ही सम्भव है।

अनेकान्तवाद की सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में भी समन्वय स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वर्तमान में मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन हो या सामाजिक, तनावपूर्ण एवं अशान्तिपूर्ण बना हुआ है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक समाज दूसरे समाज से तथा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से विरोध एवं वैमनस्य का भाव रखता है। इस विरोध एवं वैमनस्य का मुख्य कारण है– एक समन्वयवादी विचार का अभाव। सभी अपने-अपने विचारों के सत्य एवं सर्वमान्य होने का दावा करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप दूसरे के विचारों से विरोध होता है तथा सामाजिक एवं राजनैतिक अशान्ति उत्पन्न होती है।

जैन दर्शन का अनेकान्तवाद सिद्धान्त इस समस्या का समाधान कर सकता है। जैसा कि हम जानते हैं कि जैन-दार्शनिक अनन्त-आत्मवादी हैं। वह प्रत्येक आत्मा को मूलरूप से समान स्वभाव वाला एवं समान धर्मवाला मानता है। जाति, समाज या राष्ट्र में भिन्नता होने का अर्थ यह नहीं कि उसके आत्मा के स्वरूप में भी अन्तर है। किसी खास जाति या समाज में जन्म लेने का अर्थ कदापि यह नहीं है कि उसमें अधिकार भेद या अन्य किसी प्रकार का भेद आ जाता है। जाति-भेद तो व्यक्ति के कर्मानुसार होता है, न कि जन्मानुसार। भगवद्गीता[९] में कहा गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि जातियाँ समाज में व्यक्तियों के जन्म के आधार पर नहीं बनी हैं, बल्कि उनके कर्म एवं स्वभाव के आधार पर ही समाज में इस प्रकार की जातियों का विभाजन हुआ है।

अत: जैन-दार्शनिकों के अनुसार किसी भी प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी का शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीयकरण अन्याय है। उसी प्रकार किसी देश या राष्ट्र को अपने अधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना मूलत: गलत है। समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति पर सभी व्यक्तियों का समान अधिकार है।

इस प्रकार जैन-दार्शनिक एक सर्वोदयी समाज की रचना चाहते हैं। सर्वोदय का अर्थ है सभी प्राणियों का उदय होना। वह किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय विशेष के उदय से सन्तुष्ट नहीं होता। आचार्य समन्तभद्र[१०] ने कहा है- "जो समस्त जीवों का हितकारक हो वही सर्वोदयतीर्थ है।" सर्वोदय के लिए दो बातें आवश्यक हैं- मिथ्याग्रहों से दूर रहना और सभी को आत्मवत् समझना।

जैन-दार्शनिक यह युक्ति देते हैं कि यदि किसी को अपना दु:ख प्रिय न हो तो उसे यह भी समझना चाहिए कि दूसरों को भी अपना दु:ख प्रिय नहीं लगता। अतएव समस्त जीवों को अपने समान समझकर अत्यन्त आदर भाव से उनपर दया भाव रखना चाहिए। यही सर्वोदय का सिद्धान्त है।

व्यक्ति की मुक्ति, सर्वोदयी समाज के निर्माण और विश्वशान्ति के लिए जैन दर्शन के पुरस्कर्ताओं ने यही विचार भारतीय संस्कृति के आवृत्तात्मिक कोषागार में आत्मोत्सर्ग और निर्ग्रन्थता की तिल-तिल साधना करके संजोये हैं। आज वह धन्य हो गया है कि उसकी उस अहिंसा, अनेकान्त-दृष्टि और अपरिग्रह की भावना की ज्योति से विश्व का हिंसान्धकार समाप्त होता जा रहा है और सब सबके उदय में अपना उदय मानने लगे हैं।[११]

अहिंसा का बौद्धिक पक्ष अनेकान्त है। राग-द्वेष जन्य संस्कारों के वशीभूत न होकर एक-दूसरे की दृष्टि बिन्दुओं को ठीक-ठीक समझने का नाम ही तो अनेकान्त है। जैनों का विचार सही है कि जब तक मनुष्य अपने ही मन्तव्य अथवा विचार को सर्वथा ठीक समझता रहता है, अपनी ही बात को परम सत्य माना करता है, तब तक उसमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उदारता नहीं आ सकती। फलत: वह अपने को सच्चा और दूसरे को सर्वथा मिथ्यावादी समझ बैठता है। अत: आज जो परिवारों में लड़ाई-झगड़े और कलह-क्लेश हैं, सार्वजनिक क्षेत्र में क्रूरता का वातावरण है, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में जो तनाव है, वह एकान्त दृष्टि को अपनाने के कारण ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज राजनीतिक पचड़े में पड़कर सारा विश्व विवादों के चक्कर में फंसा हुआ है। कोई कहता है कि समाजवाद ही समस्याओं को सुलझा सकता है, तो दूसरा कहता है कि साम्यवाद से ही विश्व में शान्ति हो सकती है। तीसरा कहता है कि पूँजीवाद की छत्र-छाया में ही संसार सुख की सांस ले सकता है। अर्थात् वर्तमान समाज, समाजवाद या पूँजीवाद के नाम पर खण्डों में विभाजित हो गया है। इस विभाजनपूर्ण नीति से तथा पारस्परिक तनाव एवं संघर्ष से विश्व के राजनीतिक मंच पर ईर्ष्या, कलह, संघर्ष, भय और द्वन्द्व आदि का वातावरण बना हुआ है।

इस तरह के विरोधी विचारों के बुरे परिणाम होते हैं। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध इसका ज्वलन्त उदाहरण है। विश्वयुद्ध रूपी महाताण्डव से प्रायः सभी देशवासी बचना चाहते हैं। उसके लिए विभिन्न संगठनों की भी स्थापना की गई है। परन्तु इन संगठनों के द्वारा युद्ध की विभीषिका को नहीं रोका जा सकता। यदि देश की शक्ति को कुछ दबाकर रोकने का प्रयास किया गया तो यह युद्ध को कुछ समय के लिए भले ही रोकने में समर्थ हो, परन्तु स्थायी समाधान के लिए लोगों के विचारों में परिवर्तन लाना होगा। प्रत्येक व्यक्ति या राष्ट्र को सिर्फ अपने ही देश के हित को ध्यान में रखकर नहीं सोचना होगा, बल्कि दूसरे देश के हित की ओर भी ध्यान देना होगा अर्थात् अनेकान्तवादी या समन्वयवादी विचार लाना होगा।[१२]

सन्दर्भ

१. ब्रह्म सर्वगतं तस्माद्यथा यत्र यदोदितम्।
भवत्याशु तथा तत्र स्वप्नशक्त्यैव पश्यति।। **योगवासिष्ठ** ३/५२/४२.
सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि। वही ६/२/१५९/४१.
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदास्ति तथा परे। वही ६/२/१३/२८.
सर्वत्र सर्वशक्तित्वाद्यत्र या शक्तिरून्नयेत।
आस्ते तत्र तथा भाति तीव्रसंवेगहेतुतः।। वही ३/५२/४३.

२. महेन्द्र कुमार जैन, **जैन दर्शन**, श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन संस्थान, वाराणसी, १९७४, पृ. ४३१.

3. Cf. 'Religious differences among people have been seen so severe that most sanguinary battles have been fought on this account. Even now the difference in the religious views is at the root of among other differences in two men.' - H.S. Bhattacharya,' *Anekāntavāda* (Shree Jaina, Atmanand Sabha, Bhawnagar, 1953), p. 200

4. Cf. They were honest in their beliefs about a point in their religions, but they omitted to consider that those who dissented from their views might have been as sincere in their views as themselves. To arrive at the right

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

decision about that religious point; they ought to have taken into consideration the views of dissidenters also.' *Ibid* p. 189.

5. Cf. This view of God, Thus sets at rest all the contending theories of God and the removal of differences in religious conceptions is one of the requisites for securing the world peace.' *Ibid*, p. 201-2.

7. *Ācārāṅga*, 1/2/3/63, Ed. Yuvacharya Mahaprjna, Jain Vishva Bharati Ladnun, 1983, p. 105.

७. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कममुणा ॥ **उत्तराध्ययनसूत्र,** २५/३३

८. "बाह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ **भगवद्गीता-** १८/४१.

९. युक्त्यानुशासन, श्लोक ६१.

१०. महेन्द्र कुमार जैन, **"जैन दर्शन"** (श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान, वाराणसी, १९७४), पृ. ४३३.

११. Cf. "It may thus be said that the *Anekānta* view is supremely necessary for the solution of the burning problem of to-day viz the avoidence of the impending world war. H.S. Bhattacharya, *Anekāntavāda*, p. 202.

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

अनेकान्तवाद–एक दृष्टि

डॉ. जयशंकर सिंह

भारतीय परम्परा अध्यात्मवादी परम्परा है। अत: यह परम्परा व्यावहारिक समस्याओं का समाधान भी आध्यात्मिक आधार पर करने में विश्वास रखती है। अनेक परम्पराएँ मनुष्य को व्यक्ति के रूप में अथवा समाज के एक अंग के रूप में अथवा सृष्टि के एक अंग के रूप में देखने में विश्वास करती हैं। ईसाई और मुस्लिम धर्मों में भी व्यक्ति को सृष्टि का एक अंग माना जाता है और ईश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति शून्य से की है अत: किसी व्यक्ति का अस्तित्व पूर्णत: सापेक्ष हो जाता है। ऐसे धर्मों के सम्बन्ध में मानव के अस्तित्व की महत्ता समाप्त हो जाती है। पाश्चात्य दर्शन में अनेक ईश्वरवादी तथा अस्तित्ववादी दार्शनिक पाये जाते हैं लेकिन सत्ता की दृष्टि से यदि मनुष्य ईश्वर पर निर्भर है तो उसका अस्तित्व ही परतंत्र हो जाता है, अत: इनमें व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसके विपरीत यदि हम अनीश्वरवादी, अस्तित्ववादी तथा जड़वादियों के मत स्वीकार करतें हैं तो मनुष्य का अस्तित्व एक सीमित अस्तित्व के रूप में ही उभरता है। मनुष्य एक सीमित प्राणी है और इस सीमा के कारण ही जैसा कि हाइडेगर का मत है, बुद्धि और इन्द्रिय संवेदन का भेद प्रतीत होता है। मनुष्य का दर्शन एवं ज्ञान सीमित है इसलिए उसे बौद्धिक परिकल्पना की आवश्यकता होती है। अत: सीमित मनुष्य के द्वारा उत्पादित वस्तुओं का परिमाण कितना भी क्यों न हो वह मानवी सीमा को आनन्द से जोड़ने में सक्षम दिखाई नहीं पड़ती है।

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के चाहे एकतत्त्ववादी दार्शनिक हों, चाहे बहुतत्त्ववादी दार्शनिक (जैसे– जैन विचारक) हों वे मनुष्य के अस्तित्व को अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त क्रिया से जोड़ने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार मनुष्य दो प्रकार की परतंत्रता से मुक्त हो जाता है, प्रथम– किसी अन्य सत्ता

---

* *दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दी विश्वविद्यालय, वाराणसी।*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से सीमित होने के कारण आयी हुई परतंत्रता तथा द्वितीय– किसी विशेष प्रकार से सीमा के कारण आई हुई परतंत्रता। प्रथम प्रकार की परतंत्रता व्यक्ति की सत्ता को किसी अन्य प्रकार की सत्ता पर आश्रित मानने से आती है तथा द्वितीय प्रकार की परतंत्रता व्यक्ति की ज्ञान, दर्शन और क्रिया की सीमा को मानने से आती है। जैन दार्शनिक दोनों प्रकार की परतंत्रताओं से मुक्त होने के लिए अनेकान्तवाद का सहारा लेते हैं। वे एक ओर व्यक्ति को स्वतंत्र मानते हैं तथा दूसरी ओर जगत् के यथार्थ चित्रकार स्वरूप का अपोहन भी नहीं स्वीकार करते हैं। अनेक दार्शनिक व्यक्ति को स्वतंत्र मानते समय जगत् को ही भ्रम स्वरूप वाला मान लेते हैं। इस प्रकार जगत् के चित्रकार स्वरूप का निषेध यथार्थता की दृष्टि से अथवा मानवीय संवेदना की दृष्टि से अयथार्थ प्रतीत होता है। जैन दार्शनिक "अनेकान्तवाद" के माध्यम से सत्ता के प्रत्येक पहलू के साथ अनावश्यक छेड़खानी को निन्दनीय मानते हैं। अहिंसा का स्थान न केवल नैतिकता के स्तर पर है, अपितु तात्त्विक स्तर पर भी है। अहिंसा ही तात्त्विक स्तर पर "अनेकान्तवाद" के रूप में प्रतिष्ठित है। जब कोई भी तथ्य तात्त्विक स्तर पर अहिंसात्मक है तो विभिन्न धर्मों में विरोध तत्त्व के "अनेकान्तवादी" स्वरूप को न समझने के कारण ही हो सकता है, या फिर उनके मध्य समन्वय तत्त्व के "अनेकान्तवादी" स्वरूप को न समझने के कारण हो सकता है। अतः "अनेकान्तवाद" विभिन्न धर्मों में समन्वय के लिए एक उचित माध्यम बन सकता है।

भारतीय दर्शन में तत्त्व के स्वरूप के विषय में तीन प्रमुख दृष्टियाँ पायी जाती हैं– प्रथम तत्त्व एक है, वह अद्वयरूप है तथा भेद मिथ्या है अथवा कभी-कभी यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की जाती है कि किसी विशेष यथार्थवादी दर्शन का मत भी यथार्थ मत है। अन्य मत अयथार्थ हैं। द्वितीय– सभी मत असत्य हैं अथवा भ्रामक हैं, तत्त्व शून्य है। तृतीय तत्त्व अनेकान्त स्वरूप वाला है। अन्तिम दो दृष्टियाँ श्रमण परम्परा में पायी जाती हैं तथा प्रथम दृष्टि का सबल प्रतिपादन ब्राह्मण परम्परा में देखने में आता है। प्रथम दृष्टि के उदाहरण के रूप में हम अद्वैत वेदान्त के रूप में ले सकते हैं। द्वितीय दृष्टि का उदाहरण माध्यमिक दर्शन है, तथा तृतीय दृष्टि का उदाहरण जैन परम्परा है। इन तीन दृष्टियों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार की भी दृष्टियों का प्रचार आधुनिक पाश्चात्य परम्परा में बहुलता से दिखाई पड़ता है। प्रथम अस्तित्ववादी परम्परा, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देती है तथा द्वितीय मार्क्सवादी परम्परा जो व्यक्ति की अपेक्षा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिस्थितियों को महत्त्व देती है। उपरोक्त पाँच दृष्टियों में से जैन दर्शन की विशेषता यह है कि वह सभी दृष्टियों को सापेक्षतः सत्य अथवा किसी विशेष संदर्भ में सत्य मानने को तैयार है लेकिन संदर्भ मुक्त होकर किसी भी दृष्टि की असत्यता को स्वीकार करना अनर्थकारी नहीं होगा। भाषा का प्रयोग एक निश्चित अभिप्राय से किया जाता है अतः वाक्यों के माध्यम से एक निश्चित अभिप्राय का उन्मेष होने पर अन्य अभिप्राय अनिश्चित अथवा अवक्तव्य हो जाते हैं उस अवक्तव्यता को तत्त्व का अभाव समझना ठीक नहीं होगा अथवा एक अभिप्राय होने पर यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य अभिप्राय के आलम्बन तत्त्व में नहीं हैं। अनेक दर्शनों तथा धर्मों ने अवक्तव्यता के तत्त्व को भली प्रकार से नहीं समझा है जिससे अनेक भ्रम खड़े हो जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते समय यह नहीं समझना चाहिए कि कोई पदार्थ मात्र इलेक्ट्रान, प्रोटान का संग्रह है। सौंदर्य की दृष्टि से भी तत्त्व का एक पृथक् आयाम है। कोई भी दृष्टि चेतना के एक निश्चित पहलू की ही अभिव्यक्ति होती है, अतः उस दृष्टि के समानान्तर बाह्यार्थ का एक निश्चित पहलू ही दृष्टि पथ पर अंकित होता है, लेकिन अनेक लोग उस दृष्टि की प्रगाढ भावना के कारण, दृष्टि विषयक आसक्ति के कारण अन्य दृष्टियों की उपेक्षा कर देते हैं, जिससे तत्त्व का वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता है। जैन दर्शन के अनेकवादी सिद्धान्त की कुछ विशेषता उपर्युक्त वर्णित चार दृष्टियों के विश्लेषण से स्पष्ट हो सकती है।

प्रथम दृष्टि के उदाहरण के रूप में अद्वैत वेदान्त को लिया जा सकता है– अद्वैत वेदान्त की यह मान्यता है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर- सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। जीव सत्-असत्, चित्-अचित् और सुख-दुःख का मिश्रण है। जीव और ईश्वर का भेद व्यावहारिक है लेकिन परमार्थतः जीव और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। वस्तुतः जीव, ईश्वर और ब्रह्म एक ही है। अनादि अविद्या की गाढ़ निद्रा में चिरकाल से सोया जीव जब तत्त्वमसि (आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता ही तत्त्वमसि है) आदि वाक्य ज्ञान से जागता है, तब उसे देह, इन्द्रिय, बुद्धि की उपाधि से परे अद्वैत आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। जीव और ईश्वर दोनों अविद्या से युक्त हैं। परन्तु ईश्वर की अविद्या शक्ति मूलाशक्ति या माया शक्ति कहलाती है। जीव के लिए यह अविद्या है। ईश्वर अविद्या को अपने वेश में रखता है। जीव को अविद्या अपने वश में कर लेती है। जीव सांसारिक दुःख सुखादि का अनुभव करता है, परन्तु ईश्वर नहीं। जीव अज्ञान के कारण देह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को आत्मा समझकर ''मैं दु:खी हूँ'', ''मैं सुखी हूँ'' आदि अनुभव करता है। जीव जगत् का भोक्ता है तथा सांसारिक होने के कारण बन्धनजन्य दु:ख का भोग करता है। ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। यह कथन कि जीव ब्रह्म बन जाता है उपचार मात्र है, क्योंकि वस्तुत: जीव सदा ही ब्रह्म है, जीवत्व अविद्याजन्य भ्रान्ति है। बंधन और मोक्ष दोनों व्यावहारिक हैं, परमार्थिक नहीं हैं। जीव का जन्म-मरण, उत्पत्ति-विनाश का संस्मरण अविद्याकृत है। जब तक अविद्या है तभी तक जीव का जीवत्व है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव अज्ञान है। अविद्या की दृष्टि है। अत: जीव का कारण अज्ञान है। अविद्या निवृत्त होते ही जीव अपने शुद्धात्मस्वरूप में प्रकाशित होता है। अद्वैतवेदान्त में एक ही नित्य-कूटस्थ विशुद्ध विज्ञान स्वरूप परमात्मा तत्त्व है और यह विज्ञान धातु अविद्या से अनेक रूपों में भासित होता है तथा इनके अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर सृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। जीव चेतन है और शरीर का स्वामी है, जीव ही प्राणों को धारण करता है। ईश्वर और जीव का भेद स्पष्ट करने के लिए वेदान्त में बिम्ब-प्रतिबिम्ब की उपमा दी गयी है। मुण्डकोपनिषद् में जीव और ईश्वर का भेद बतलाते हुए कहा गया है कि ईश्वर-जीव समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लिये रहते हैं। एक भोक्ता है, दूसरा द्रष्टा है अर्थात् जीव स्वादिष्ट कर्मफल का भोग करता है और दूसरा भोग न करने के कारण देखता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर में व्यावहारिक दृष्टि से भेद अवश्य है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से दोनों एक हैं।

इस दर्शन पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि आत्मा ब्रह्म स्वरूप है और सदा मुक्त है तो वह जगत् के बन्धन में क्यों फँस जाती है? यदि जगत् बिल्कुल भ्रमात्मक है तो यह मुक्त अनन्त अज्ञानवाद सत्ता को कैसे बाधित कर सकता है? अत: शांकर वेदान्त एक दृष्टि से ही सत्य प्रतीत होता है, अन्य दृष्टि से सत्य प्रतीत नहीं होता।

द्वितीय दृष्टि के उदाहरण के रूप में माध्यमिक सम्प्रदाय को लिया जा सकता है। यह सम्प्रदाय यह मानता है कि दृष्टियाँ सापेक्षत: सत्य हैं तथा निरपेक्षत: असत्य अथवा शून्य है। दृष्टियाँ चार हैं– १. सत् २. असत् ३. सत्-असत् ४. न सत् न असत्। तत्त्व इन चारों कोटियों से शून्य हैं। माध्यमिक के अनुसार बुद्धि की कोटियाँ जिन्हें दृष्टि, अन्त, विकल्प और कल्पना भी कहा जाता है- वह चार है जिसमें प्रथम दो मुख्य तथा अन्तिम दो गौण हैं। प्रथम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्य सत् की कोटि है जो सतत्त्व, भाव, विधान, नित्यता, द्रव्यता, अभेद, एकता और अपरिवर्तन की दृष्टि है। द्वितीय असत् की कोटि है जो असत्य निषेध, अभाव, भेद, पर्याय, अनित्यता, एकता और परिवर्तन की दृष्टि है। तीसरी कोटि प्रथम और द्वितीय को जोड़ देने से बनती है। यह सदसद् की कोटि है। इसके अनुसार सत्-असत् दोनों सत्य हैं। चतुर्थ कोटि प्रथम और द्वितीय कोटि के निषेध करने से बनती है। इसका रूप न तो सत्-असत् (न उभय) है। जो सापेक्ष है वह स्वतंत्र नहीं हो सकता है। निर्वाण भाव और अभाव तो प्रकाश के समान विरुद्ध हैं जो एक साथ नहीं रह सकते। निर्वाण को न भाव, न अभाव रूप ही मान सकते हैं। जो न भाव है न अभाव है, उसका किसी प्रकार से ज्ञान सम्भव नहीं। अतः निर्वाण बुद्धि के चारों विकल्पों के परे अनिवर्चनीय है। नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने सांख्य और प्राचीन वेदान्त को प्रथम कोटि के उदाहरण के रूप में माना है। द्वितीय कोटि के रूप में हीनयान दर्शन का उदाहरण है। तृतीय कोटि में जैन दर्शन और चतुर्थ कोटि में चार्वाक मत और दीघनिकाय के सामञ्फल सुत्त में वर्णित सञ्जय अज्ञानवाद मत का उदाहरण है।

नागार्जुन का चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व सर्वधर्मशून्यता को सिद्ध करता है। उनके अनुसार सभी भाव निःस्वभाव हैं। किसी भाव के सम्बन्ध में हम अस्ति, नास्ति, उभय और नाभयरूप से कुछ भी नहीं कह सकते। इस प्रकार सभी भावों की स्वभावहीनता या निःस्वभावता ही शून्यता है। निर्वाण चतुष्कोटिविर्निमुक्त है। यदि निर्वाण को भावरूप माना जाय तो अन्य भावों के समान वह भी जन्म मरणशील और संस्कृत धर्म बन जायेगा। यदि उसे अभाव रूप माना जाय तो उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं होगी। अभाव, भाव सापेक्षिक होता है। अतः यदि निर्वाण अभाव हो तो वह सापेक्ष धर्म बन जायेगा फिर निर्वाण को भावा-भाव रूप मानना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रकाश और अंधकार के समान भाव और अभाव एक साथ नहीं रह सकते हैं। यदि निर्वाण को भावा-भाव भिन्न माना जाय तो निर्वाण का ज्ञान नहीं हो सकता। निर्वाण निरपेक्ष अद्वय तत्त्व है, निर्वाण ही शून्यता है, यही सब धर्मों की धर्मता है, जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमन रूपी संसार है, वही अप्रतीत्य अनुपादन की दृष्टि से निर्वाण है।

नागार्जुन सभी दृष्टियों को भ्रमात्मक मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न होता है कि उनकी दृष्टि को भ्रमात्मक क्यों न माना जाय। यदि उनकी दृष्टि को भ्रमात्मक मान लिया जाय तो संसार और निर्वाण का भेद यथार्थ हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अन्य दृष्टियों के लिए मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तित्ववादी विचारक व्यक्ति को विशेष महत्त्व देते हैं तथा अस्तित्व को सार का पूर्वगामी मानते हैं। उनके अनुसार विशेष ही यथार्थ है तथा सार्वभौम मिथ्या अथवा सन्देहात्मक। अस्तित्ववाद को व्याख्यायित करते हुए सार्त्र की महत्त्वपूर्ण उक्ति है कि "अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।" इस कथन के अर्थ को इस उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। कुर्सी एक पदार्थ है, बढ़ई ने इसका निर्माण किया, कुर्सी को बनाने की प्रेरणा उसे कुर्सी के प्रत्यय से मिली अर्थात् कुर्सी का प्रत्यय उसके मन में पहले आया और उसी विचार को उसने अपने निर्माण कौशल द्वारा वस्तु का रूप दे दिया। कुर्सी बनने के पहले उसके मन में पहले से यह धारणा थी कि कुर्सी क्या होती है। उसका रूप, आकार कैसा होता है और उसकी जरूरत क्या होगी, इत्यादि। किसी विशेष कुर्सी के निर्माण के पहले यह धारणा विद्यमान पहले रहती है तथा उसके स्वरूप को निर्धारित तथा परिभाषित करती है। हम कह सकते हैं कि कुर्सी का अस्तित्व उसके सार द्वारा निर्धारित है। कुर्सी के सार से अर्थ उसके गुण, उपयोगिता तथा उसके निर्माण विधि से है। कुर्सी के वास्तविक आने से पूर्व यह सब बातें बढ़ई के मन में पहले से विद्यमान थीं, और उसी के नाते वह कुर्सी का निर्माण करता है। कुर्सी के अस्तित्व के हर पहलू रंग, आकार, रूप आदि पूर्व विद्यमान प्रत्यय द्वारा निर्धारित हैं। उसके अस्तित्व में अपने से पूर्व उसका सार निर्धारित हो चुका होता है।

देकार्त तथा लाइबनित्स जैसे दार्शनिक जो कि सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास करते हैं। मनुष्य के अस्तित्व को कुर्सी की तरह पूर्व निर्धारित बना देते हैं। सृष्टिकर्ता ईश्वर के मन में अपनी सृष्टि, जिसमें मनुष्य सम्मिलित है, का प्रत्यय उसी प्रकार पूर्व विद्यमान होता है जिस प्रकार बढ़ई के मन में कुर्सी का प्रत्यय पूर्व विद्यमान होता है। ईश्वर एक महान कलाकार है, उसके दैवी विवेक अथवा प्रत्यय का परिणाम मनुष्य है। ईश्वर ने इच्छा किया प्रकाश हो गया। उसी प्रकार ईश्वर के मन में विचार आया कि एक सृष्टि की रचना हो, मनुष्य जैसा प्राणी हो जो अमुक-अमुक लक्षणों से युक्त हो। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में उसका सार उसके अस्तित्व का उसी प्रकार पूर्वगामी है जिस प्रकार कुर्सी का सार उसके अस्तित्व का पूर्वगामी है। यहं कहा जा सकता है कि सभी प्रत्ययवादी दर्शन तो सृष्टिकर्ता ईश्वर को परम सत् के रूप में नहीं स्वीकार करते। ब्रह्मवादियों तथा निरपेक्षवादियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि यह ब्रह्म कोई अतिरिक्त या पारलौकिक सत्ता नहीं है, अपितु यह मनुष्य के स्वरूप का एक आयाम है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार के प्रत्ययवादी दर्शन में "वास्तविक मनुष्य" के वास्तविकता की एक अभिव्यक्ति किसी अन्य स्थिति में होती है और यह अन्य स्थिति जो कुछ भी हो उसका सम्भाव्य स्वरूप पहले से ज्ञात है। अतः इस दर्शन तन्त्र में मनुष्य की व्यष्टिता का निषेध किया गया है। मनुष्य ब्रह्मरूप में वास्तविक है, व्यक्ति के रूप में नहीं।

दर्शनशास्त्र का इतिहास मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों के वस्तुगत सामान्य तथा सुनिश्चित उत्तर की तलाश का इतिहास है, किन्तु अस्तित्ववादियों के अनुसार दर्शन का मुख्य कार्य सुनिश्चित उत्तर की खोज नहीं है। उन प्रश्नों का सुनिश्चित उत्तर हो ही नहीं सकता। दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य को अपने अस्तित्वगत समस्या के प्रति सचेत करना है तथा उत्तरों की भ्रामक तलाश करने की प्रवृत्ति को रोकना है। जीवन तथा जगत् एवं विचार तथा अस्तित्व के अलगाव की समस्या का समाधान विचार की सीमा में रह कर नहीं खोजा जा सकता है। अस्तित्ववादी दर्शन का मुख्य प्रयोजन मनुष्य के अस्तित्व की मूल संरचना का विश्लेषण करना तथा उसके मूलतः स्वतंत्र अस्तित्व का बोध कराना है। अस्तित्ववादी दर्शन मानवीय वास्तविकता का दर्शन है– 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है' यह कथन मानवीय वास्तविकता पर ही लागू होता है, वस्तुओं के समुदाय पर नहीं। दर्शन का लक्ष्य सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं है अपितु उसका उद्देश्य मनुष्य को दार्शनिकता के प्रथम बिन्दु पर यह प्रश्न पूछना है कि मनुष्य होने का क्या अर्थ है? इस प्रश्न को कोई एक वस्तुगत वैज्ञानिक तथा सुनिश्चित उत्तर नहीं हो सकता। ऐसा इसलिए नहीं कि मनुष्य अपने सत्ता में निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। मानवीय वास्तविकता के सम्बन्ध में जगत् भी एक प्रश्न है। एक खुली सम्भावना है, दोनों के बारे में जितना कहा जाय वे उससे अधिक होते हैं। मानवीय व्यवहार को किसी सामान्य सूत्र द्वारा सीमित अथवा नियंत्रित नहीं किया जा सकता। उसका अपना व्यवहार भी उसकी वास्तविकता को परिसीमित नहीं कर सकता, क्योंकि मनुष्य अपने ही व्यवहार द्वारा निरन्तर अपना निर्माण करता रहता है।

अस्तित्ववाद व्यक्तिवादी होने के कारण व्यक्ति की समस्याओं को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करता है लेकिन उनके समाधान के लिए कोई ठोस रास्ता नहीं दिखाता है। अतः अस्तित्ववाद में किसी प्रश्न का समाधान नहीं मिलता है। अस्तित्ववादी प्रश्नों के समाधान के लिए हमें अध्यात्मवादी दर्शनों की शरण लेनी पड़ती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय दृष्टि के उदाहरण के रूप में मार्क्सवाद को लिया जा सकता है। मार्क्सवाद परिस्थितियों को ज्यादा महत्त्व देता है। सामाजिक परिस्थितियाँ मनुष्य को निर्धारित करती हैं। अतः परिस्थितियों को अनुकूल हुए बिना व्यक्ति स्वतंत्र नहीं होता, समन्वय वस्तुगत नियमों के कारण ही होता है, यह व्यक्ति की इच्छा अथवा अमूर्त नियमों का परिणाम नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन जो कि विज्ञानवाद का विरोधी दर्शन है, में भी मनुष्य को अस्तित्व के वास्तविक अर्थ से वंचित रखा गया है। मार्क्सवादी व्यवस्था में मनुष्य उस व्यवस्था का एक अंग मात्र रह जाता है, मार्क्सवादी आर्थिक नियंत्रणवाद वस्तुतः व्यष्टिता के निषेध का सिद्धान्त है। प्रत्ययवादी कहता है कि निरपेक्ष सत् को जान लेने के बाद मनुष्य को जानने की कोई समस्या नहीं रह जाती है। मार्क्सवादी कहता है कि आर्थिक परिस्थितियों को नियंत्रित कर लिया जाय तो मानव जीवन की वास्तविकता को भी नियंत्रित किया जा सकता है। दार्शनिक फायरबाख की चर्चा करते हुए मार्क्स कहते है कि फायरबाख ने हेगल के दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास जरूर किया लेकिन वे शिकायत भरे स्वर में कहते हैं कि फायरबाख के दर्शन का क्षेत्र सीमित था, क्योंकि वे दर्शन को सामाजिक, राजनैतिक क्रिया या परिवर्तन का स्वर बनाने में असफल रहे। मार्क्स कहते हैं कि फायरबाख का यह मत कि धार्मिक जगत् का वास्तविक आधार धर्मनिरपेक्ष जगत् है, सही है। लेकिन भौतिक जगत् से स्वतंत्र धार्मिक जगत् के अस्तित्व की व्याख्या भौतिक जगत् में अन्तर्निहित विरोधाभासों एवं द्वन्द्वों के समझने की है और उसे व्यवहार में दूर करने की है। कार्ल मार्क्स कहते हैं कि फायरबाख इस बात को समझने में असफल रहे कि धार्मिक भावना स्वयं में एक सामाजिक उत्पाद है और जिस अमूर्त व्यक्ति का विश्लेषण वे करते हैं वह एक विशिष्ट प्रकार के समाज से सम्बन्धित है।

मार्क्स कहते हैं कि धार्मिक जगत् की भ्रान्ति के उद्घाटन के पश्चात् दर्शन का कार्य भौतिक जगत् से सम्बन्धित भ्रम का उद्घाटन करना है। मार्क्स के अनुसार वह जब भौतिक जगत् की वास्तविकता को अनावृत करने का प्रयास करता है तब उसकी स्वयं की प्रकृति भी अनावृत हो जाती है। हम मार्क्स के दर्शन में सिद्धान्त एवं व्यवहार की एकता पातें हैं जिसके मूल में अतिक्रमण की अवधारणा व्याप्त रहती है जो स्वयं में सिद्धान्त एवं व्यवहार, यथार्थ एवं आदर्श की एकता को समेटे हुए है और स्वयं में भूत एवं वर्तमान की मानवीय क्रियाशीलता में निर्धारित एवं नियंत्रित होती है, लेकिन इसकी दिशा भविष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की ओर होती है।

इस प्रकार मार्क्स के दर्शन में हमें विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों के ऊपर ही प्रत्ययों एवं विचारों की निर्भरता परिलक्षित होती है। अंत में हम कह सकते हैं कि आत्मनिर्भर, व्यवस्थित, शाश्वत, अमूर्त एवं परिकल्पनात्मक दर्शन के लिए मार्क्स के दर्शन में कोई भी स्थान नहीं है। विश्व को परिवर्तित करने में जो भी दर्शन समर्थ है उसे ही मार्क्स के अनुसार दर्शन के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक समाज मुक्त न हो। अत: मार्क्सवाद व्यक्ति की मुक्ति के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं करता है।

उपर्युक्त चारों दृष्टियाँ एकांगी हैं। प्रथम दृष्टि अस्तित्व की स्वतंत्रता एवं एकता के प्रतिपादन के लिए जगत् के चित्राकार स्वरूप की यथार्थता का ही निषेध कर देती है। द्वितीय दृष्टि सभी को भ्रमात्मक एवं शून्य मानती है। अत: बन्धन और मोक्ष में कोई भेद नहीं करती है। नागार्जुन का कहना है कि जो संसार है वही निर्वाण है और जो निर्वाण है वही संसार है। चतुर्थ दृष्टि सामान्य को महत्त्व नहीं देती है तथा पंचम दृष्टि विशेष को महत्त्व नहीं देती है। जैन दर्शन उपर्युक्त विचारों को यथार्थता की दृष्टि से समन्वय करने का प्रयास करता है। तत्त्व अनेकान्त स्वरूप वाला है, वह द्रव्यगुण तथा पर्याय तीनों के समन्वित रूपवाला है, वह सामान्य भी है तथा विशेष भी। यदि पृथ्वी पर पैदल चलने में कठिनाई होती है तो पृथ्वी को मिथ्या मान लेने से एक सुखद अनुभूति तो हो सकती है लेकिन उससे हमारी समस्याएँ कम नहीं होती हैं। जैन दर्शन महावीर का दर्शन है जिसमें बाधाएँ यथार्थ हैं तो उनका अतिक्रमण भी यथार्थ है। अत: जैन दर्शन मनुष्य की प्रारम्भिक अनुभूतियों के साथ न्याय करने के लिये ही "अनेकान्तवाद" जैसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है।

सन्दर्भ-सूची

१. अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य को अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। जो जीव का नैसर्गिक धर्म है।
(षडदर्शनसमुच्चय पर गुणरत्न की टीका)

२. अनन्तधर्मात्मकं वस्तुः –हरिभद्र, **षड्दर्शनसमुच्चय**, पृ० ५७

३. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

४. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, **तैत्तिरीयोपनिषद्**, २४

५. अनुभव एवं मृषा – **नागार्जुनकारिका** (सेंट पीट्सवर्ग संस्करण) टीका, पृ० ५८

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन चिन्तन में मन की अवधारणा

डॉ० अजय कुमार*

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है।[1] इसी अर्थ में जैन दर्शन पंचेन्द्रिय जीवों को दो वर्गों में विभाजित करता है। पंचेन्द्रिय जीवों को यद्यपि पाँच इन्द्रियां होती हैं, फिर भी सिर्फ मनुष्य ही समनस्क होता है। अन्य पंचेन्द्रिय जीव अमनस्क होते हैं। समनस्क का अर्थ है- मन के साथ तथा अमनस्क का अर्थ होता है बिना मन के। मनुष्य मनन या चिन्तन कर सकता है, इसलिए उसे समनस्क कहते हैं। मन का जो कार्य होता है वह मनुष्य में होता है। पंचेन्द्रिय पशु आदि चिन्तन नहीं करते जिससे यह समझा जाता है कि उनके पास मन नहीं है और उन्हें अमनस्क कहा जाता है।

अनिन्द्रिय- मन को अनिन्द्रिय कहते हैं, अर्थात् वह इन्द्रिय की कोटि में नहीं आता है। किन्तु ऐसा इसलिए कहा जाता है कि मन अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अनिन्द्रिय का मतलब इन्द्रिय का अभाव नहीं माना जाता है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है कि यदि किसी लड़की को अनुदरा कहा जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसे उदर नहीं है, बल्कि अनुदरा का यह अर्थ होता है कि वह गर्भ धारण नहीं कर सकती है या पेट का जो काम है गर्भ धारण करना उससे वह वंचित है, अत: वह अनुदरा है।

अन्तःकरण- मन को अन्त:करण भी कहा जाता है, क्योंकि इसे वह बाहरी आकार प्राप्त नहीं होता है जो इन्द्रियों को प्राप्त होता है। कान में सुनने की शक्ति होती है, साथ ही कान की बाहरी आकृति भी होती है। आँख में देखने की क्षमता होती है, साथ ही आँख की आकृति भी होती है। इसी तरह अन्य इन्द्रियों की भी अपने-अपने कार्यों की क्षमताएँ होती हैं और बाह्य आकार भी होते हैं। मन मनन तो करता है लेकिन बाह्य रूप में दिखाई नहीं पड़ता है। इसलिए इसे अन्त:करण कहते हैं। यह आन्तरिक साधन है।

---

* *एन-४/४ बी.-४ आर, शान्ति निलयन, कृष्णपुरी, करौंदी, वाराणसी-५*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नोइन्द्रिय- इसे नोइन्द्रिय भी कहते हैं, क्योंकि मन सूक्ष्म होता है। इसका कोई आकार नहीं होता है। अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय का मतलब है- ईषत् इन्द्रिय। क्योंकि यह इन्द्रियों द्वारा बोध होने वाले विषयों को जानता है। यह इन्द्रिय न होते हुए भी इन्द्रिय जैसा है।

सर्वार्थग्राही- मन सूक्ष्म है तथा इसकी गति सभी इन्द्रियों तक है। अर्थात् यह इन्द्रियों के सभी विषयों को जानने और समझने की क्षमता रखता है। इसलिए इसे सर्वार्थग्राही कहते हैं। जो सभी अर्थों को ग्रहण करता है।[२]

मन के भेद

मन के दो भेद होते हैं- द्रव्य मन तथा भाव मन। आचार्य महाप्रज्ञ ने द्रव्य मन की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'मन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल द्रव्य (मनोवर्गणा-द्रव्य) जब मन रूप में परिणत होते हैं, तब वे द्रव्य मन कहलाते हैं। यह मन अजीव है- आत्मा से भिन्न है।[३] उन्होंने पुन: भाव मन का विश्लेषण करते हुए कहा है- 'विचारात्मक मन का नाम भाव मन है। मन मात्र ही जीव नहीं।[४] किन्तु मन जीव भी है-जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक मन कहते हैं।[५] इसके दो भेद हैं- लब्धि और उपयोग। पहला मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार। मन को नोइन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है।[६]

मन को प्राय: सभी दर्शन में चेतना स्वरूप माना गया है। यदि वह चैतन्य है तो जीव ही होना चाहिए, किन्तु जैन दर्शन में द्रव्य मन को अजीव माना गया है।

मन के कार्य

मन का काम चिन्तन करना है। इसकी चर्चा संक्षिप्त रूप में पहले हो चुकी है, किन्तु विस्तारपूर्वक समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि मन की जो चिन्तन क्रिया होती है उसके अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्य आते हैं-

ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि।

मतिज्ञान के प्रारम्भिक चार स्तर हैं जिन्हें प्रकार भी माना जाता है। वे प्रकार हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। जब किसी इन्द्रिय को अस्पष्ट रूप से किसी वस्तु का बोध होता है तो उसे अवग्रह कहते हैं। उसमें मात्र कुछ का बोध होता है। यहाँ तक इन्द्रिय का कार्य होता है। किन्तु जब ईहा की स्थिति आती है तो वहाँ से मन सक्रिय हो जाता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा ध्वनि का जो बोध हो रहा है, वह क्या है? यह प्रश्न करने वाला मन ही है। फिर वह परिस्थिति को देखते हुए यह तय करता है कि वह अमुक वस्तु है। उस स्थिति को अवाय कहते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। आगे वह उस बोध को ज्ञान के रूप में धारण कर लेता है जिसे धारणा कहते हैं। मन को यह बोध हो जाता है कि उसे अमुक वस्तु जो दिखाई दे रही है अथवा ध्वनि जो सुनाई दे रही है, वह अमुक वस्तु है। ये सभी बोध मन के द्वारा ही होते हैं। जब किसी की स्मृति होती है तो उसमें मन की ही क्रियाशीलता देखी जाती है, क्योंकि जिस व्यक्ति या वस्तु की याद आ रही है उसके सम्बन्ध में जो बोध हुआ था वह भूतकाल में हुआ था। उस व्यक्ति या वस्तु को इन्द्रिय ने देखा था, समझा था, किन्तु वह व्यक्ति या वस्तु सामने नहीं है फिर भी उसका बोध हमें हो रहा है। क्योंकि मन उसे हमारे सामने ला रहा है। तर्क और अनुमान में कारण के आधार पर किसी तर्क को प्रमाणित किया जाता है। उसमें कारण से साध्य को सम्बन्धित करके हमें ज्ञान दिलाने वाला मन ही होता है। इसी तरह मन की चिन्तन-प्रणाली में अनेक चीजें आती हैं जिनका बोध व्यक्ति को होता है। बल्कि यों कहा जाए कि इन्द्रियों से प्राप्त सामग्रियों को ज्ञान रूप में प्रस्तुत करना मन का ही काम है। इसीलिए पाश्चात्य मनोविज्ञान में भी यह माना जाता है कि इन्द्रियों से मात्र संवेदना प्राप्त होती है। वह संवेदना जब मन तक पहुँचती है तब उसे प्रत्यक्ष का रूप या स्तर मिलता है। यद्यपि न्याय दर्शन में यह माना जाता है कि इन्द्रियों से प्राप्त सामग्रियां मात्र मन तक पहुँचकर ही ज्ञान का रूप धारण नहीं करती हैं, बल्कि मन उन्हें आत्मा तक ले जाता है तब वे ज्ञान का रूप धारण करती हैं।

मन का विषय : अर्थ-बोध

मन अर्थ का बोध प्राप्त करता है। इन्द्रियाँ किसी वस्तु को देखती है, सुनती हैं, सूँघती हैं, स्पर्शन करती हैं, उसका स्वाद ग्रहण करती हैं। किन्तु उनसे क्या अर्थ निकलता है? उसे समझने का काम मन करता है। उदाहरणस्वरूप राम नाम का व्यक्ति सामने आया। आँखों ने उसे देखा, किन्तु राम एक आदमी है, पशु नहीं है, वनस्पति नहीं है इस बात को मन ही समझता है। कोई व्यक्ति गीत गा रहा है, उसकी आवाज अन्य लोगों के कानों द्वारा ग्रहण हो रही है। कान सिर्फ शब्द ग्रहण कर रहा है। गीत के शब्द धार्मिक हैं या शृंगारिक हैं उसे मन समझता है। इसलिए मन का विषय अर्थबोध माना गया है।

मन की सत्ता

मन की सत्ता से अभिप्राय है- मन है। किन्तु कैसे यह जाना जा सकता है कि मन की सत्ता है। इस सम्बन्ध में सन्मतितर्क[७] में बताया गया है कि निम्नलिखित बोधों से यह संकेत मिलता है या प्रमाणित होता है कि मन का अस्तित्व है-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. संशय, २. प्रतिभा, ३. स्वप्न, ४. वितर्क, ५. सुख-दुःख, ६. क्षमा, और ७. इच्छा।

संशय कैसे होता है? यह न तो इन्द्रियों से होता है और न आत्मा से ही होता है। यह सिर्फ मन के कारण होता है। प्रतिभा का बोध इन्द्रियों को नहीं होता, उसे मन ग्रहण करता है। स्वप्न में मन की ही प्रधानता होती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी बताता है कि स्वप्न देखने वाला अर्धनिद्रा की स्थिति में होता है। उस समय उसकी इन्द्रियाँ काम नहीं करती हैं। उसे स्वप्न में जो भी बोध होता है वह मन के कारण ही होता है। तर्क-वितर्क में मन की भूमिका होती है। तर्क के आधार का बोध तो मन को ही होता है। सुख-दुःख का बोध मन को होता है। इन्द्रियों से क्षमा कार्य नहीं होता है। मन ही किसी के अपराध को क्षमा करता है। जो भी इच्छाएँ होती हैं, वे मन के कारण ही होती हैं। इन्द्रियों से कोई क्षमा प्रदान नहीं कर सकता है। अतः ये विविध क्रियाएँ ये बताती हैं कि मन की सत्ता है।

न्याय दर्शन में यह माना गया है कि चूँकि बहुत से ज्ञान एक ही साथ उत्पन्न नहीं होते हैं इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि मन है।[८] इसका मतलब है कि इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। अपनी क्षमताओं के अनुकूल विविध सामग्रियाँ ग्रहण करती रहती हैं। किन्तु उन सबका बोध व्यक्ति को नहीं होता। जिस सामग्री का मन से सम्पर्क होता है उसी का ज्ञान होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि मन की सत्ता है। अन्नम भट्ट का यह मानना है कि सुख आदि की प्राप्ति यह बताती है कि मन है। सुख-दुःख का बोध मन के कारण ही होता है।

मन का स्थान

मन समूचे शरीर में व्याप्त है। इन्द्रिय और चैतन्य में पूर्ण व्याप्ति 'जहाँ-जहाँ चैतन्य है, वहाँ-वहाँ इन्द्रिय है', का नियम नहीं होता। मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश में नहीं रहता, उसका कोई नियत स्थान नहीं है। जहाँ-जहाँ चैतन्य की अनुभूति है, वहाँ-वहाँ मन अपना आसन बिछाए हुए है।[९]

मन और इन्द्रिय

जैन दर्शन यह मानता है कि इन्द्रिय के द्वारा जो कुछ होता है उसमें मन का होना अनिवार्य है, क्योंकि मन के बिना इन्द्रियों के द्वारा ग्रहित सामग्रियों का कोई अर्थ नहीं होता है। किन्तु मन की जो गतिविधियाँ होती हैं उनमें इन्द्रियों की उपस्थिति हो सकती है और नहीं भी हो सकती है। अर्थात् मन इन्द्रियों से अलग रहकर भी अपनी गति कर सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भ

१. मनः मननं मन्यते अनेन वा मनः। **जैन दर्शन : मनन और मीमांसा**, मुनि नथमल, पृ०- ४८७
२. सर्वार्थग्रहणं मनः। **प्रमाणमीमांसा**, १/२/२४
३. **भगवतीसूत्र**, १३/७/४९६
४. **प्रश्नव्याकरण** (आश्रवद्वार), २
५. **सूयगडो**, १/१२ (वृत्ति)
६. **जैन दर्शन : मनन और मीमांसा**, मुनि नथमल, पृ०- ४८८
७. **सन्मतिप्रकरण**, काण्ड-२
८. न्यायसूत्र, १/१/१६
९. **जैन दर्शन : मनन और मीमांसा**, मुनि नथमल, पृ०- ४९१

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन दर्शन व शैव सिद्धान्त दर्शन में प्रतिपादित मोक्षः एक तुलनात्मक अध्ययन

डा० शारदा सिंह*

भारतीय परम्परा के अन्तर्गत वैदिक, अवैदिक और आगमिक परम्परा की सामान्य मान्यता है कि मानव जीवन एक संतुलित और परिष्कृत जीवन है जिसका केन्द्र हमारा व्यक्तित्व है और वास्तव में समत्वपूर्ण व्यक्तित्व ही मानव जीवन का लक्ष्य है। समत्वपूर्ण जीवन आत्मकेन्द्रित होता है। इसी कारण भारतीय दर्शन का लक्ष्य हमें अपने आत्मा का केन्द्र अर्थात् परम साध्य मोक्ष को पाने में हमारी मदद करना है।

मोक्ष विचार जैन दर्शन और शैव सिद्धान्त दर्शन का ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय दर्शन का एक मूल प्रश्न है। प्रस्तुत लेख में हम शैव सिद्धान्त तथा जैन दर्शन में प्रतिपादित मोक्ष तत्त्व की विवेचना करेंगे। जैन दर्शन के निवृत्तिमार्गी और शैव सिद्धान्त के प्रवृत्तिमार्गी होने से दोनों ही दर्शनों में अपनी-अपनी परम्परा की विशेषताएं समान रूप से परिलक्षित होती हैं। ये दर्शन अपनी परम्परा की विचारधाराओं को अपने-अपने ढंग से व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। इसलिये जहां उनमें वैचारिक समानता पायी जाती है वहीं विषमताएं भी स्पष्ट रूप से इंगित होती हैं। इन विषमताओं का मूल कारण दोनों दर्शनों में मान्य तात्त्विक अवधारणा है। इन्हीं मान्यताओं के कारण ही दोनों दर्शनों का सैद्धान्तिक मतभेद है।

जैन विचारधारा के अनुसार "बन्धहेत्वाभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकाय विप्रमोक्षो मोक्षः"[१] अर्थात् बन्ध हेतुओं (मिथ्यात्व व कषाय आदि) के अभाव व निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। इसी प्रकार मोक्ष का स्वरूप बताते हुये कहा गया है कि 'निरवशेषनिराकृत कर्ममलकलंकस्यः शरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति"[२] अर्थात् आत्मा जब कर्ममल रूपी कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देती है तब जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि रूप और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अव्याबाध रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे ही मोक्ष कहते हैं।

शैव सिद्धान्त के अनुसार आत्मा द्वारा शुद्धावस्था की प्राप्ति ही मोक्ष है। मलों के प्रभाव से आत्मा स्वयं मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। मोक्ष-प्राप्ति के लिये आत्मा शिव पर आश्रित है। शिव के अनुग्रह द्वारा ही आत्माएं मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। मोक्ष पाने के लिये जीव शिव पर ही निर्भर करता है। किन्तु शिव की कृपा प्राप्त करने की आवश्यक शर्त मलों से पूर्ण निवृत्ति (मलपरिपाक) है। इसके पश्चात् शिव गुरु रूप में उपस्थित हो जीव पर शक्तिपात करते हैं और जीव साधना के अनन्तर शिवोऽहं का अनुभव करता है और शिव में लीन हो जाता है। शैव सिद्धान्त में यही मोक्ष का स्वरूप है।

सर्वप्रथम देखें तो दोनों ही दर्शनों में कर्ममलों से निवृत्त होने पर ही मोक्ष को माना गया है, किन्तु जैन दार्शनिक अनीश्वरवादी होने के कारण जहाँ अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि रूप और अव्याबाधसुख रूप को मोक्ष कहते हैं वहीं शैव सिद्धान्ती जैन दार्शनिकों की मुक्ति की अवधारणा से तो सहमत होते हैं किन्तु वे मुक्ति को शिवानुभूति की अवस्था मानते हैं, और कहते हैं कि मुक्ति आत्मा के प्रयास का परिणाम नहीं अपितु शिव के अनुग्रह के कारण है। मोक्ष के स्वरूप के प्रतिपादन में शैव सिद्धान्त भक्तिमीमांसीय व्याख्या करता है।

जैनागमों में मोक्ष तत्त्व पर तीन दृष्टियों से विचार हुआ है- १. भावात्मक २. अभावात्मक ३. अनिर्वचनीय। भावात्मक दृष्टि से मोक्ष बाधक तत्त्वों की अनुपस्थिति और आत्म शक्तियों का पूर्ण प्रकटन है। मोक्षावस्था में मनुष्य में निहित ज्ञान, भाव व संकल्प, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख व अनन्त शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। निषेधात्मक रूप में मुक्त जीव में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का भी अभाव होता है, अतः मुक्तात्मा निराकाय होता है और अनिर्वचनीय रूप में मुक्तात्मा को व्यक्त करने के लिये कोई शब्द नहीं है, कोई पद नहीं है।

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति शैव सिद्धान्ती भी मुक्तात्मा को शुद्ध, निर्मल व चित्त मानते हैं। किन्तु अपनी इस अवस्था में भी जीव (मुक्तात्मा) शिव के समान सत्, चित्त, और आनन्दरूप नहीं हो सकता है अर्थात् जीव शिव के समान स्थिति और संहार आदि कृत्य नहीं कर सकता। जहां जैन दर्शन में मुक्तात्मा आत्मपूर्णत्व को प्राप्त हो सर्वोच्च पद पर पहुंचता है वहां शैव सिद्धान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में मुक्तात्मा पूर्ण अवस्था में भी सर्वोच्च पद (शिव) का सेवक ही रहता है, क्योंकि सृष्टि आदि कृत्य जीव नहीं कर सकता।[३] यहां दोनों दर्शनों में वर्णित मुक्ति में मतभेद एक दर्शन के ईश्वरवादी और दूसरे के अनीश्वरवादी होने की वजह से है। यहां उनकी विभेदता का अन्य कोई स्पष्ट कारण नहीं दिखायी देता। क्योंकि राग, द्वेष आदि वृत्तियों का तो दोनों ही दर्शन मुक्तात्मा में निरोध मानते हैं। किन्तु सर्वोच्चता की स्थिति में जीव, शिव के अभिन्न रूप में स्थित हो जाता है– इसका जैन दर्शन निरोध करता है।

जैन दर्शन निवृत्तिमार्गी है, अत: वह जागतिक पदार्थों की नश्वरता को लेकर चलता है, क्योंकि उसके अनुसार मानव के जो भी ऐन्द्रिय अनुभव के विषय हैं वे सभी स्वभावत: परिवर्तनशील और विनाशशील हैं। किन्तु शैव सिद्धान्त का जगत् की नश्वरता सम्बन्धी दृष्टिकोण अपना एक अलग महत्त्व रखता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार समस्त जगत् अगर शिवमय है तो नश्वर कैसे हो सकता है। यहां जगत् के प्रति धार्मिक भाव दिखायी देता है।[४]

शैव सिद्धान्ती जगत् को बन्धन का कारण न मानकर उसे भी मोक्ष के लिये आवश्यक मानते हैं। उनका जगत् सम्बन्धी विचार और भी स्पष्ट हो जाता है जब शैव सिद्धान्ती भुक्ति और मुक्ति अर्थात् संसार और मोक्ष में कोई विरोध नहीं पाते हैं। यह जैन के उन मान्यताओं के ठीक विपरीत है जहां निवृत्ति को संन्यास का दूसरा रूप माना गया है। जैनागम के दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि ''गृहस्थ जीवन पापकारी है और संन्यास निष्पाप है।''[५] जैन धर्म के अनुसार गृहस्थ जीवन साध्य (मोक्ष) की उपलब्धि का एक ऐसा मार्ग है जो सरल होते हुए भी भयपूर्ण है। गृहस्थ जीवन में साधना के मूल तत्त्व अर्थात् मन:स्थिरता को प्राप्त करना दुष्कर है। गृहस्थ जीवन वनखण्ड की तरह बाधाओं से परिपूर्ण है, किन्तु साथ ही साथ जैन दर्शन में यह भी माना गया है कि जहाँ कहीं भी समभाव है वहाँ सबका समान महत्त्व है। चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण।

स्पष्ट है कि शैव दर्शन की साधना-पद्धति संन्यासमार्गी न होकर पूर्णतया गृहस्थमार्गी है और संसार के प्रति अपना सकारात्मक दृष्टिकोण रखता है, जबकि जैन दर्शन गृहस्थ की अपेक्षा संन्यास को ज्यादा श्रेयस्कर मानता है।

जैन दर्शन में आस्रव-निरोध को संवर कहा गया है अर्थात् नवीन कर्म वर्गणाओं के पुद्गलों को रोकना। यह संवर मोक्ष-प्राप्ति का प्रथम सोपान व मूल कारण माना गया है। सामान्यत: शारीरिक, मानसिक, वाचिक क्रियाओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का यथाशक्ति निरोध करना ही संवर है। क्योंकि क्रियाएं ही बन्धन के मूल कारण हैं। इस प्रकार संवर का अर्थ अनैतिक और पापकारी प्रवृत्तियों से अपने आपको बचाना है। मोक्ष की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक नये कर्म-पुद्गलों को आत्मा की तरफ प्रवाहित होने से न रोका जाय। कर्म स्वभावतः अपना फल देगें ही और इस स्थिति में मुनष्य को अनेक योनियों में भ्रमण करते रहना पड़ेगा।

शैव सिद्धान्त की भी ऐसी मान्यता है कि जीव को स्वयं के कर्मो द्वारा ही इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त होगी। इसके लिये आवश्यक है कि नये कर्मों का उत्पादन न किया जाये अर्थात् वासनाओं पर अधिकार आवश्यक है। इस समस्या से बचने के लिये जहां जैन दर्शन मिथ्यात्व आदि आस्रवों को सर्वथा अवरूद्ध कर देने व नवीन कर्मों के आगमन का निरोध करता है वहीं शैव सिद्धान्ती कर्मों के उदात्तीकरण पर बल देते हैं जिसमें जीवात्मा बुरे कर्मों को बुरा समझ कर छोड़ देता है, अच्छे कर्मों को वह ईश्वर(शिव) को समर्पित करके करता है और उनके फल भोग से बच जाता है।[६] दूसरे शब्दों में जीवात्मा नवीन कर्म फलों का उत्पादन नहीं करता। इसके अतिरिक्त दोनों ही दर्शन अच्छे और बुरे अनुभवों से वासनाओं की तीव्रता को कम करने के लिये कर्मों को मोक्ष प्राप्ति में समान रूप से आवश्यक मानते हैं।

मोक्ष प्राप्ति के लिये जिस साधन प्रक्रिया को जैन दर्शन संवर और निर्जरा कहता है शैव दर्शन में वही कर्मों का उदात्तीकरण व मलपरिपाक कहलाता है। जिस प्रकार संवर के पश्चात् जो कर्म आत्मा के साथ अब भी लगे हैं उनके समूल नाश के लिये निर्जरा को जैन दर्शन आवश्यक मानता है उसी प्रकार शैव सिद्धान्ती भी कर्मो के समूल नाश के लिये "मलपरिपाक" की प्रक्रिया को आवश्यक मानते हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं के अभाव के कारण कर्मों से मुक्ति संभव नहीं है– यह विचार दोनों दर्शनों में समान है।

जैन दर्शन स्वभावतः अनीश्वरवादी दर्शन है इस कारण वह ईश्वर प्रत्यय का सर्वथा खण्डन करता है। ऐसा मानने के पीछे उसकी यह धारणा है कि प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर की प्राप्ति असंभव है, तथापि वे कालान्तर में ईश्वर के स्थान पर तीर्थंकरों को मानने लगे।

ईश्वर के बारे में शैव सिद्धान्त का अपना अलग ही दृष्टिकोण है जो उसके पूर्णतया भक्तिप्रधान दर्शन होने की पुष्टि करता है। देखा जाय तो तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से आगम की सबसे बड़ी विशेषता परमतत्त्व की अवधारणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। शैव सिद्धान्त का शिव जीवों से प्रेम करता है और यही कारण है कि वह उन्हें इस संसार से मुक्त होने का अवसर भी देता है। मुक्ति से पूर्व भी और पश्चात् भी शिव, जीव में अन्तर्निहित होता है। इसके विपरीत जैन दर्शन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वर हमारे भक्ति से प्रसन्न होकर न ही हमें सुख देगा, और न ही हमारी अवहेलना से अप्रसन्न होकर हमें कष्ट देगा। स्पष्ट है कि जैन धर्म में ईश्वर के लिये स्थान नहीं है। किन्तु कालान्तर में तीर्थंकरों और धर्म के प्रति हमारी आस्था बनी रहे इस कारण तीर्थंकरों के अधीन शासनाध्यक्ष यक्ष व यक्षी आदि की कल्पना की गई, जो हमारे भौतिक अभिष्टों को पूरा कर सकते हैं। फिर भी जैन दर्शन में ईश्वर की सत्ता को इन्कार किया गया है।

अन्य दर्शनों की भाँति शैव सिद्धान्त की भी मान्यता है कि मुक्ति की अवस्था में जीव परमतत्त्व के समान हो जाता है, किन्तु मुक्ति की अवस्था में भी वह उपास्य-उपासक का भेद स्वीकार करता है अर्थात् मोक्षावस्था में भी जीव शिव के समान नहीं होता, अपितु मलों का आवरण हट जाने पर वह शिव के समान चित्त हो जाता है। शैव सिद्धान्त की भी मान्यता है कि जिस प्रकार नमक जल में मिल जाता है उसी प्रकार शिव आत्माओं में अपने गुण भर देता है और उससे परे भी रहता है।[७]

शैव सिद्धान्त के समान जैन दर्शन भी मोक्षावस्था में साध्य और साधक का अभेद मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र इसी अभेदता को बताते हुए कहते हैं कि "कषायों और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उसको विजित करने वाला आत्मा ही मोक्ष कहलाता है[८] अर्थात् जब तक साधक कषायों के वशीभूत रहता है तब तक साधक रहता है और जब कषायों पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वही साधक साध्य (मोक्ष) बन जाता है। दोनों दर्शनों में अन्तर है तो यह कि शैव सिद्धान्त का जीव कितना ही सर्वज्ञ, शक्तिमान क्यों न हो वह शिव से निम्नतर ही होगा। दूसरी ओर जैन दर्शन में आत्मा सर्वशक्तिमान होता है। साध्य व साधक में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि उनके अनुसार मुक्ति तो साधक का अपना ही रूप है, कोई बाह्य पदार्थ नहीं। इस विभिन्नता के बावजूद भी दोनों दर्शन आत्मा के स्वरूप में अधिष्ठित होने की बात स्वीकार करते हैं।

शैव सिद्धान्त की इस मुक्ति की व्याख्या में भक्ति का चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। जैन दर्शन जहां आत्मपूर्णता को मोक्ष मानता है वहां शैव सिद्धान्ती उपास्य उपासक का भेद मानते हैं। किन्तु यह विचित्र-सा लगता है कि उपास्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही स्वयं उपासक हो जाय। इस विवाद से बचने के लिये शैव मुक्ति की इस व्याख्या में सायुज्य मुक्ति के सम्बन्ध की दृष्टि से अभेद मानते हुए भी अद्वैत की दृष्टि से द्वैत मानते हैं।

भारतीय दर्शन में मोक्ष के सम्बन्ध में संदेहमुक्ति और विदेह मुक्ति की अवधारणा मिलती है। जैन दर्शन इसी मुक्ति की व्याख्या द्रव्य व भावमोक्ष रूप में करता है। भावमोक्ष राग, द्वेष आदि से पूर्णतया निवृत्त हो जाने पर तथा द्रव्यमोक्ष मरणोपरान्त प्राप्त होता है।

शैव सिद्धान्त के अनुसार अन्य मुक्ति सम्बन्धित व्याख्याओं को हम अपर मुक्ति अथवा निम्नतर मुक्ति कह सकते हैं। क्योंकि वहाँ मुक्ति की व्याख्या पाश ज्ञान और पशु ज्ञान तक ही सीमित है। अतः शैव सिद्धान्ती अपनी मुक्ति की विवेचना करते हुए सायुज्य मुक्ति को प्रतिपादित करते हैं जिसमें शारीरिक सुख को क्षणिक मानते हुए वास्तविक आनन्द शिवानुभूति को मानते हैं और कहते हैं कि मुक्ति सुख-दु:ख से परे की स्थिति है। मुक्त जीव सुख और दु:ख दोनों को समान भाव से स्वीकार करता है। सांसारिक सुख न उसे प्रसन्न करते हैं न दु:ख उसे विचलित करते हैं। जबकि जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था दु:खान्त के अतिरिक्त परम शान्ति की अवस्था है। किन्तु अनीश्वरवादी होने के कारण जैन यह मानते हैं कि मोक्ष जीव के स्वयं के प्रयास का परिणाम है। जैन दर्शन में मान्य दो प्रकार के सुखों में इन्द्रिजन्य सुख का तो मोक्षावस्था में विनाश हो जाता है किन्तु आत्मीय सुख का अभाव मानना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा सुख रूप है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यदि आत्मा का स्वभाव ही नष्ट हो जायेगा तो क्या बचेगा। इस प्रकार वे सिद्ध करते हैं कि मोक्ष में स्वाभाविक सुख का उच्छेद नहीं होता और साथ ही साथ अनादि अविद्या के विलय से आनन्दरूपता की अभिव्यक्ति भी होती है। ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मप्रवाह रूप अनादि अविद्या के नष्ट होने पर अनन्त सुख, अनन्त ज्ञानादि रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। अगर मुक्त आत्मा को हम संवेद्य रूप (जानने योग्य के रूप में) मानें तो अनन्त ज्ञान की स्वतः सिद्धि हो जाती है अथवा उनका (अनन्त सुख) संवेदन होता है और नहीं मानेंगे तो उसे आनन्द स्वरूप भी कहना असंगत होगा। यहां दोनों दर्शनों में वैचारिक विषमता दिखाई देती है।

कर्म, बन्धन का और अकर्म, मुक्ति का हेतु है यह तो सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। किन्तु तुलनात्मक दृष्टिकोण से यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि सभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शनों में माना गया है कि कर्म स्वभावत: अचेतन है अत: उनका फल देने वाला कोई न कोई चेतन है जो जीवों को कर्मों की शुभता व अशुभता के आधार पर फल प्रदान करता है और जीव कर्मों के अच्छे और बुरे अनुभव के आधार पर उनका फल भोगता है।

जैन दर्शन में इस धारणा को लेकर तात्त्विक दृष्टि से मतभेद है। अर्थात् वह यह नहीं मानते कि शुभ अशुभ कर्मों का फलदाता ईश्वर है। ईश्वरवादियों (शैव) के यहां जिस कर्म के लिये ईश्वर की कल्पना की गई उस रूप में कर्म को ही जैन दर्शन में ईश्वर माना जा सकता है क्योंकि उसी के अनुसार जीव विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है। दूसरी बात मुक्त जीव ही सुखवादी अनन्त चतुष्टयों से युक्त हो कृतकृत्य करता है और उसके द्वारा किये गये कर्म स्वयं ही फल देने में समर्थ होते हैं। उनके लिये किसी चेतन तत्त्व की कोई आवश्यकता जैन दर्शन को नहीं होती हैं। कर्म विपाक की प्रक्रिया के अनुसार जब कर्म पक जाते है अर्थात् उनका समय पूरा हो जाता है तो वे स्वयं ही अपना फल प्रदान करते हैं जबकि शैव सिद्धान्त में यह आवश्यक कृत्य शिव द्वारा किया जाता है।

शैव सिद्धान्त की इस व्याख्या में जहां जीव कर्म का आवरण हट जाने पर शिव के समान हो जाता है। वहां भक्ति की पराकाष्ठा और भी बढ़ जाती है जब जीव द्वारा किये गये समस्त कर्म शिव के कर्म हो जाते हैं अर्थात् जीव समस्त कर्मो को शिव को समर्पित कर देता है। इसके विपरीत जैन दर्शन मोक्षावस्था में आत्मा का किसी शक्ति में विलीन होना नहीं मानते हैं। उनके अनुसार समस्त आत्माओं की स्वतंत्र सत्ता रहती है। आत्मा किसी अन्य शक्ति में अन्तर्भूत न होकर लोकान्त में जाकर एक स्थान विशेष पर विराजमान हो जाते हैं जिन्हें आगमिक शब्दावली में सिद्धशिला कहते हैं और वहां से वापस नहीं आते हैं यदि मुक्त जीव का संसार में वापस आना माना जाय तो संसारी और मुक्त जीव में कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा और मोक्ष की व्याख्या असंभव हो जायेगी।

जैन व शैव दर्शनों में मोक्ष हेतु प्रतिपादित मार्गों में विशेष समानता दिखाई देती है। प्रारम्भ से ही मोक्ष प्राप्ति के लिये अलग-अलग मार्गों का प्रतिपालन किया जा रहा है। वेद से कर्ममार्ग, उपनिषद से ज्ञानमार्ग, भागवत से भक्तिमार्ग, ध्यान आदि से योगमार्ग का विकास हुआ। जैन व शैव इन दोनों ही दर्शनों में न केवल ज्ञान, न कर्म और न केवल आचरण से मुक्ति प्राप्त हो सकती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, अपितु सम्मिलित रूप से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जैन दर्शन के अनुसार केवल एक मार्ग का वरण करके हम मुक्ति नहीं पा सकते जब तक कि हम अपनी चेतना को पूर्ण विकसित न कर लें। उनके अनुसार मानवीय चेतना के तीन पक्ष होते हैं, ज्ञान, भाव व संकल्प और जब तक इन तीनों का पूर्ण विकास नही होगा मोक्ष पाने का प्रयास एकांकी ही होगा। अतः इसके लिये आवश्यक है कि इन तीनों पक्षों के विकास के लिये त्रिविध साधना मार्ग (सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र) का पालन किया जाय। यद्यपि दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्वापरता को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है किन्तु ज्यादातर विद्वानों ने दर्शन को ज्ञान से पहले प्राथमिकता दी है। ज्ञान बिना दर्शन के नहीं हो सकता। चारित्र की अपेक्षा ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है क्योंकि मुक्ति का आकांक्षी आध्यात्मिक पथ का पथिक, बिना ज्ञान और श्रद्धा के कैसे आगे बढ़ सकता है।

शैव सिद्धान्ती भी मानते हैं कि मोक्ष मार्गों- क्रमशः चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान इन सभी का अनुसरण आवश्यक है। कहने का तात्पर्य है कि मुक्ति एकाएक नहीं प्राप्त हो जाती वरन् क्रमशः प्राप्त होती है। प्रथम मार्ग का अनुसरण करने से पद मुक्ति अथवा आंशिक मुक्ति और तत्पश्चात् पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है।[९]

यहां हम देखते हैं कि दोनो ही दर्शनों में प्रथम पद मुक्ति तत्पश्चात् पूर्णमुक्ति की प्राप्ति का विधान है। साधक द्वारा मोक्षमार्ग का क्रमशः अनुसरण करने से उसके मल आदि निवृत्त होते हैं और धीरे-धीरे साधक मोक्ष तक पहुँच जाता है और मुक्ति प्राप्त करता है। इन दोनों दर्शनों में अन्तर है तो इतना कि जैन दर्शन चारित्र की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व देता है। शैव सिद्धान्त में अन्य सभी मार्गों का अनुसरण करने के पश्चात् ज्ञान मार्ग की साधना की जाती है। चूंकि शैव सिद्धान्त शिव पर आधारित दर्शन है अतः ऐसा नहीं हो सकता कि कर्म में भक्ति का अभाव हो अथवा ज्ञान में भक्ति का अभाव हो, उनके अनुसार भक्ति सभी मार्गों के मूल में है। यहां तक कि मुक्ति की अवस्था में भी भक्ति अपरिहार्य है। यद्यपि मुक्त हुए जीव के कर्म अनासक्त भाव से किये गये होते हैं अतः वह बन्धनकारी नहीं होते। दोनों ही दर्शनों के विचारों में साम्यता दिखाई देती है।

इन तीनों मार्गों द्वारा मोक्ष की उपलब्धि के लिये मनुष्य जिन सोपानों का आरोहण करते हुए आत्म-विकास के पथ पर आगे बढ़ता है उसे जैन दर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में ''गुणस्थान'' की संज्ञा दी जाती है। इन चौदह गुणस्थानों का अनुसरण करता हुआ साधक चौदहवें अर्थात् अन्तिम गुणस्थान में अपने आयुकर्म का भी क्षय करके सिद्ध और मुक्त कहलाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि शैव दर्शन में भी मुक्ति एकाएक नहीं प्राप्त हो जाती अतएव जीव उत्तरोत्तर विकास करता हुआ क्रमशः मुक्त होता है। इस आध्यात्मिक उत्कर्ष को शैव सिद्धान्ती ''दश कार्य'' कहते हैं। जब साधक मुक्ति की अन्तिम अवस्था को प्राप्त करता है तो वह बिना ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ही सब जान जाता है। यह शिव ज्ञान प्राप्ति की वह अवस्था है जिसे शैव सिद्धान्त में उच्चतर ज्ञान अथवा दिव्य ज्ञान कहा जाता है। जैन दर्शन इसी अवस्था को आत्मपूर्णता की अवस्था मानता है। अतः यहां दोनों ही दर्शनों में मुक्ति की अवस्था का विचार लगभग एक-सा ही है, अलग है तो प्रतिपादन का दृष्टिकोण।

जैन दर्शन में मुक्ति में जीव का अभाव नहीं माना गया है। आचार्य विद्यानन्द का कहना है कि जीव के अभाव को सिद्ध करने वाला न तो कोई निर्दोष प्रमाण है और न दूसरा सम्यक् हेतु ही है। अतः वह अन्य दर्शनों में वर्णित इस अवधारणा का विरोध करता है। दूसरी तरफ शैव सिद्धान्त की मान्यता है कि अज्ञान दूर हो जाने पर आत्मा परमात्मा से मिल जाती है फिर भी जीव के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है। अगर मुक्ति की अवस्था में केवल परमात्मा ही रहता है तो मुक्ति किसकी होती है। अतः शैव सिद्धान्ती भी मुक्ति में जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से दोनों दर्शनों में समानता है।

एक और विषमता शैव और जैन इन दोनों दर्शनों में मुक्त आत्मा के स्वरूप को लेकर पाई जाती है। ज्यादातर भारतीय दर्शनों की भाँति शैव सिद्धान्त भी मानता है कि जीव जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो मुक्त हो जाता है और वर्तमान शरीर उस मुक्त जीव का शरीर नहीं होता है। मुक्त जीव उससे भिन्न होता है किन्तु उसका कोई स्वरूप नहीं होता अर्थात् वह निराकार होता है। लेकिन इसके विपरीत जैन दार्शिनिक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से मुक्त जीव निराकार होता है क्योंकि वह इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वह साकार होता है। साथ ही मुक्त जीव सर्वलोक व्यापी भी नहीं होता। क्योंकि सांसारिक जीव में संकोच विस्तार का कारण शरीर होता है और मोक्षावस्था में कार्य-कारण का सर्वथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभाव रहता है।

सर्वलोकव्यापी के प्रश्न पर शैव सिद्धान्त भी इससे सहमत है कि मोक्षावस्था में शरीर का अभाव होता है अथवा जीव इन तत्त्वों से स्वयं को पृथक् समझता है, क्योंकि वह अपने आप को शिव में स्थित कर देता है और 'शिवोऽहं' भावना के अभ्यास द्वारा महसूस करता है कि मैं शिव हूँ। इस अभ्यास द्वारा आत्मा शिवमय हो जाती है। यही शैव सिद्धान्त की मुक्ति की उच्चतर अवस्था मानी गयी है। किन्तु इससे अलग वे जैन दर्शन के समान मुक्तात्मा का कोई स्वरूप स्वीकार नहीं करते।

अन्त में दोनों दर्शनों में तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि ये दोनों दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं न कि विरोधी। अगर उनमें विरोध दिखाई देता है तो वह उनकी अपनी दार्शनिक संरचना के कारण तथा अपने-अपने मतों के प्रतिपादन का लेकर है।

जैन दर्शन जिसे समत्व की साधना कहता है शैव उसे शिवोऽहं की साधना कहता है, क्योंकि जैन दर्शन में ज्ञानमीमांसा की पराकाष्ठा है तो शैव सिद्धान्त में भक्ति की पराकाष्ठा है। इसमें प्रधान अन्तर है तो यह की जहां शैव दर्शन में आत्मा मुक्ति के पश्चात् शिव में स्थित हो जाता है वहां जैन दर्शन में मुक्त जीवों के सिद्धशिला पर स्थित होने का वर्णन मिलता है। अत: महत्त्वपूर्ण भेदों के होते हुए भी दोनों दर्शनों में साम्यता भी सामान्य रूप से दिखाई देती है।

सन्दर्भ

१. सर्वार्थसिद्धि,१/४
२. सर्वार्थसिद्धि,उत्थानिका,पृ०१
३. शिवज्ञान सिद्धियार,११/३२१
४. शैव सिद्धान्त दर्शन ,पृ० १०
५. दयावैकालिकसूत्र,१/११/१२/१३
६. शैव सिद्धान्त दर्शन, पृ० १५८
७. शैव सिद्धान्त दर्शन, पृ० १५८-१५६
८. शिवज्ञान सिद्धियार,११/३२१
६. योगशास्त्र, पृ०४/५
१०. शैव सिद्धान्त दर्शन, पृ०१६६

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

वर्णव्यवस्था–जैनधर्म तथा हिन्दू धर्म के सन्दर्भ में

डा० दीपंजय श्रीवास्तव

विश्व के धर्मों में जैन एवं हिन्दू धर्म का विशिष्ट स्थान है। इनकी प्राचीनता का आकलन सम्भव नहीं है। एक अनादित: अस्तित्व में है तो दूसरे का उद्गम अपौरुषेय वेद से है। वैदिक वाङ्मय में तीर्थंकरों के नामोल्लेख से जैन धर्म की प्राचीनता प्रमाणित होती है। दोनों भारत के सनातन तथा जीवन्त धर्म हैं और दोनों में देश-काल की इयत्ता के अतिक्रमण का सामर्थ्य है। निश्चयत: वह दिन दूर नहीं जब युद्ध की विभीषिका से भयभीत विश्व का प्रत्येक मानव वास्तविक सुख और शान्ति के लिये इन धर्मों का स्वेच्छापूर्वक वरण करेगा।

'वर्णव्यवस्था' प्राचीन भारत में स्थापित उन शाश्वत मूल्यों में से एक है जिसकी स्थापना भौतिकी और आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए की गयी थी। प्राचीन भारत में वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में चार वर्णों का विभाजन किया गया था जिसका आधार समाज में व्याप्त सहयोग सामंजस्य, और सहकारिता की भावना थी।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'वर्ण' शब्द 'वृञ् वरणे' या 'वरी' धातु से बना है जिसका अर्थ है– वरण करना अथवा चुनना। अपने स्वभाव के अनुसार मनुष्य जिस व्यवसाय का वरण करता है वही उसका वर्ण होता है। अत: वर्ण का जाति से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही होता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि ये ज्ञान, सुरक्षा, आजीविका तथा सेवा मनुष्य की चार स्वाभाविक इच्छाओं की तुष्टि करते हैं। इस दृष्टि से जो पठन-पाठन का कार्य करते हैं वे ब्राह्मण, जो रक्षा का कार्य करते हैं वे क्षत्रिय, जो व्यवसाय में रुचि लेते हैं वे वैश्य तथा जिनकी सेवा कार्य में विशेष अभिरुचि है, वे शूद्र कहलाते हैं। 'वर्ण' का यही वास्तविक अर्थ है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चार वर्णों का वर्णन इस प्रकार आया है – विराट पुरुष (परमेश्वर) के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघों से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[१] इससे हमें पता चलता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामक चार वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष (परमेश्वर) से हुई है। भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि गुण और कर्म के अनुसार चारों वर्णों की उत्पत्ति भगवान से हुई है।[२] महाभारत में कहा गया है कि इन चार वर्णों के स्वभाव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं।[३]

भृगु-संहिता के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम केवल ब्राह्मणों की ही सृष्टि की थी। पर आगे चलकर मानव जाति उनके रंगों के अनुसार चार वर्णों में विकसित हो गई। ब्राह्मणों का रंग सफेद, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला तथा शूद्रों का रंग काला था। किन्तु आगे चलकर स्वयं भृगु मुनि को स्वीकार करना पड़ा कि रंग के आधार पर वर्णों का वैज्ञानिक विभाजन नहीं किया जा सकता। वर्णों के विभाजन का वास्तविक आधार तो कर्म है। जो सत्त्व गुण प्रधान थे वे ब्राह्मण कहलाये, जो रजोगुण प्रधान थे वे क्षत्रिय हुये, जो तमोगुण मिश्रित रजो प्रधान व्यक्ति थे वे वैश्य कहलाये तथा जो तमोगुण प्रधान थे उन्हें शूद्र के नाम से अभिहित किया गया।

यद्यपि हिन्दू धर्म में वर्णव्यवस्था को माना गया है फिर भी इसे कट्टरता के साथ नहीं माना गया है। विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति तथा समूह अपनी सामाजिक जाति या वर्ण को बदल सकते हैं। विश्वामित्र, पुरामिध और अजामिध ब्राह्मण जाति के अन्तर्गत माने गये और उन्होंने वैदिक मंत्रों की भी रचना की। राजा जनक जन्म से क्षत्रिय होते हुये भी अपनी परिपक्व विद्वता तथा पवित्र चरित्र के कारण ब्राह्मण माने गये। शूद्र होते हुए भी व्यक्ति अच्छा कार्य करने पर ब्राह्मण हो सकता है।[४]

१. ब्राह्मण

ब्राह्मण का मुख्य धर्म वेदाध्ययन करना और कराना, यज्ञ करना और कराना, दान लेना और देना है।[५] निरूक्त तथा मनुस्मृति में कहा गया है कि विद्या ब्राह्मणों के पास आयी और सम्पत्ति के समान अपनी रक्षा करने के लिये ब्राह्मणों से प्रार्थना की।[६] महाभारत के अनुसार सत्य, दान, क्षमा, शील, मृदुता, तप और दया आदि ब्राह्मण के लक्षण माने गये हैं।[७] आर्थिक क्षेत्र में विशेषाधिकार के अन्तर्गत ब्राह्मण को दान लेने का अधिकार था। यज्ञ की बची सामग्री ब्राह्मण की ही होती थी। उसके धन को राजा भी ग्रहण नहीं कर सकता था। वह राजकर से मुक्त था।[८] ब्राह्मण को प्रत्येक वर्ण में विवाह करने का अधिकार था। चार पत्नियां रखना उसकी स्थिति, गरिमा और प्रतिष्ठा को व्यक्त करती है।[९]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. क्षत्रिय

क्षत्रिय के प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना और कराना, नृत्य, भोगानन्द आदि में आसक्ति रखना था। ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का स्थान माना गया है। ऋग्वेद में क्षत्रिय को 'राजन्य' कहा गया है। इन्हें राज्य की भुजाएं कहा जाता था। वे अध्यापन तथा अध्ययन भी कर सकते थे, परन्तु उनका कार्य चतुर्वर्णों की रक्षा करना था। आचार्य गौतम ने इस वर्ण को तीन वेदों पर आधारित बताया है।[१०] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में क्षत्रिय के प्रमुख कर्मों में अध्ययन, यज्ञ करना, शस्त्रधारण करना और भूरक्षण की गणना की गयी है।[११] क्षत्रियों का कार्य न्याय की स्थापना करना तथा दण्ड देना भी था।

३. वैश्य

वैश्य की गणना द्विजाति में की गई है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन तीन वर्णों को 'द्विज' कहा गया है। द्विज के लिये यज्ञ करना, वेदाध्ययन करना एवं दान देना कर्तव्य माना गया है।[१२] वैश्यों का प्रमुख कार्य अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित था तथा अन्य वर्णों का भरण–पोषण करना था। वे कृषि कर्म, पशुपालन, व्यापार, उद्योग धन्धे तथा दान आदि में निपुण थे।[१३] अपनी उत्पादित आय का कुछ भाग उन्हें कर के रूप में देना पड़ता था। आपात काल में वह अन्य वर्णों के व्यवसाय को अपना सकता था। गाय, ब्राह्मण तथा अपने वर्ण की रक्षा के लिये वह शस्त्र भी धारण कर सकता था।[१४]

४. शूद्र

शूद्र वर्ण का एक ही काम था कि वह द्विज वर्णों की सेवा करे।[१५] महाभारत में भी कहा गया है कि शूद्र की उत्पत्ति भगवान ने सभी की सेवा के लिए की है।[१६] परन्तु याज्ञवल्क्य ने बतलाया है कि शूद्र केवल सेवा पर ही निर्भर नहीं थे। अपनी जीविका के लिये शूद्र बढ़ई, चित्रकार पच्चीकार, रंगसाज, नृत्य, गायन, वादन आदि का भी कार्य करते थे।[१७]

जैनधर्म जन्मना वर्ण व्यवस्था को नहीं मानता है। पद्मचरित में कहा गया है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में जाति के जो चार भेद कहे गये हैं, अहेतुक हैं। यदि कहा जाय कि वेदवाक्य और अग्नि के संस्कार से दूसरा जन्म होता है तो यह भी ठीक नहीं है। इसके लिए युक्ति यह है कि जहां-जहां जाति भेद देखा जाता है, वहां-वहां शरीर की विशेषता अवश्य पाई जाती है[१८] जिस प्रकार कि मनुष्य हाथी, गधा, घोड़ा आदि में पायी जाती है।[१९] इसके अतिरिक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य जातीय पुरुष के द्वारा अन्य जातीय स्त्री में गर्भोत्पत्ति देखी जाती है। इससे सिद्ध है कि ब्राह्मणादि में जाति वैचित्र्य नहीं है। कोई जाति निन्दनीय नहीं है, गुण ही कल्याण करने वाले हैं। यही कारण है कि व्रत धारण करने वाले चाण्डाल को भी गणधरादि देव ब्राह्मण कहते हैं।[२०] विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल के विषय में पण्डित जन समदर्शी होते हैं।[२१] 'पद्मचरित में बतलाया गया है कि 'नामधारी ब्राह्मण' जो सब प्रकार के आरम्भ में प्रवृत्त हैं, निरन्तर कुशील में लीन रहते हैं तथा क्रियाशील हैं वे केवल ब्राह्मण नामधारी ही हैं, वास्तविक ब्राह्मणत्व उनमें कुछ भी नहीं है।[२२]

जैन धर्म सम्पूर्ण मानव जाति को एक ही मानता है। जैन धर्म के अनुसार जातियों के भेद की कल्पना केवल आचार की विशेषता से ही की गयी है। ब्राह्मणों की प्रशंसनीय जाति कहीं भी नियत नहीं है, किन्तु जप–तप, पूजन–पाठ एवं अध्ययन अध्यापन आदि रूप समीचीन आचरण से ही प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों ही वर्णवालों की जाति वस्तुतः एक ही मनुष्य जाति है। उसके भीतर यदि विभाग किया जाता है तो वह विविध प्रकार के आचार से ही किया जाता है। यदि उक्त चारों वर्ण वालों के मध्य स्वभावतः जाति-भेद होता है तो फिर ब्राह्मणी से क्षत्रिय की उत्पत्ति किसी प्रकार से भी नहीं होनी चाहिए थी।

यदि यहां उत्तर दिया जाये कि शुद्ध शील वाली ब्राह्मण स्त्री में पवित्र आचार के धारक ब्राह्मण द्वारा जो पुत्र उत्पन्न किया गया हो, वह ब्राह्मण कहा जाता है, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर में सर्वकाल शुद्धशीलपन स्थित नहीं रह सकता है। इसका भी कारण यह है कि अनादि काल से आने वाले कुल में उस शुद्ध शीलता से पतन कहां नहीं होता है? कभी न कभी उस शुद्ध शीलता का विनाश होता ही है।

जैन धर्म के अनुसार शूद्र भी धर्मपालन का अधिकारी है।

> "शूद्रो ऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्धास्तु ताद्रशः।
> जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ हयात्माऽस्ति धर्मभाक् ।।"

उपकरण आचार और शरीर की पवित्रता से युक्त शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान जिन धर्म सुनने का अधिकारी है। जाति से हीन भी आत्मा, काल आदि लब्धि के आने पर धर्म का अधिकारी होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जबकि इसके विपरीत मनुस्मृति में कहा गया है कि–

"न शूद्राय मतिदंधान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत ।।"[२३]

अर्थात शूद्र के लिए बुद्धि नहीं देना चाहिए, न जूठन और न हवि का शेष भाग ही देना चाहिए। इसको न धर्म का उपदेश देना चाहिए और न व्रत का उपदेश देना चाहिए। पुनः "जो इस (शूद्र) को धर्म का कथन करता है अथवा व्रत का उपदेश देता है, वह उसी के साथ असंवृत नामक नरक में डूब जाता है।"[२४]

जैन धर्म के अनुसार जिस जाति में संयम, शील, तप, दान, इन्द्रियां व कषायों का दमन और दया ये परमार्थभूत गुण अवस्थित रहते हैं, वही सत्पुरुषों की श्रेष्ठ जाति समझी जाती हैं। योजनगंधा, धीवरकन्या आदि से उत्पन्न होकर तपश्चरण में रत हुए व्यासादिकों द्वारा की जाने वाली उत्तम पूजा को देखकर तपश्चरण में अपनी बुद्धि लगानी चाहिये।

शीलवान् मनुष्य नीच जाति में उत्पन्न होकर भी स्वर्ग को प्राप्त हुये हैं तथा उत्तम कुल में उत्पन्न होकर भी कितने ही मनुष्य शील व संयम को नष्ट करने के कारण नरक को प्राप्त हुए हैं। सज्जनों को केवल शील संयम आदि गुणों से रहित जाति का अभिमान नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह कोरा अभिमान नीच गति में प्रवेश करने वाला है, किन्तु इसके विपरीत उन्हें शील का अतिशय आदर करना चाहिये क्योंकि वह उच्च पद को प्राप्त कराने वाला है।[२५]

इस प्रकार जैनधर्म में वर्णव्यवस्था का आधार जन्मना न होकर कर्मणा है।

संन्दर्भः

१. ब्राह्मणो अस्य मुखमासीत----------शूद्रो अजायत ।। **ऋग्वेद** १०/९०/१२
२. चातुवर्ण्यं मया सृष्टं-----------विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।। **गीता**–४/१३
३. ब्रांह्मण क्षत्रिय वैश्यानांशूद्रानां---------स्वभाव प्रभवैःगुणैः।
महाभारत, भीष्मपर्व ४१/४२
४. **रीलिजन एण्ड सोसाइटी** – डा० एस० राधाकृष्णन् पृ०१३
५. कौटिल्य **अर्थशास्त्र** ११३, **याज्ञवल्क्य स्मृति** ५/१८८
६. विद्या ब्राह्मण मित्याह----------स्यां वीर्यवत्तमा ।। **मनुस्मृति** २/११४
७. सत्यं दानं क्षमाशीलं आनृशंस्यं ----ब्राह्मण इति स्मृतिः।
महाभारत, वनपर्व १८०/२१
८. कौटिल्य **अर्थशास्त्र** २/१, **मनुस्मृति** ७/१३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. **अथर्ववेद** ५/१७/८'
१०. **गौतमधर्मसूत्र**– १३/३, ११/९
११. **कौटिल्य अर्थशास्त्र** ३/६
१२. **याज्ञवल्क्यस्मृति**– १/११८
१३. **गौतमधर्मसूत्र**– १०/१–३
१४. **बोधायनधर्मसूत्र**–२/२२०
१५. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः ---वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ **मनुस्मृति**–१/९१
१६. प्रजापतिहि वर्णाना दासं शूद्रमकल्पयत् । – **महाभारत।**
१७. शूद्रस्य द्विजशुश्रुषा -------जाति हित माचरन् । **याज्ञवल्क्य स्मृति** –१/१२०
१८. **पद्मचरित** – ११/१९४–५४
१९. **पद्मचरित** – ११/१९६
२०. **पद्मचरित** – ११/२०३
२१. **पद्मचरित** – ११/२०४
२२. वही – १०९/८२
२३. **मनुस्मृति** – ४/८१
२४. **मनुस्मृति** – ४/८१
२५. अमितगति : **धर्मपरीक्षा** – १७/२४–३३

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

हिन्दू परम्परा में कर्म सिद्धान्त की अवधारणा

डॉ. रजनीश शुक्ल*

भारतीय तत्त्वचिन्तन में कर्मसिद्धान्त का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य, कला विज्ञान आदि पर कर्म सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट होता है। सुख-दुःख एवं सांसारिक वैविध्य का कारण ढूँढ़ते हुए भारतीय विचारकों ने कर्म के अद्‌भुत सिद्धान्त का अन्वेषण किया है। जन सामान्य की यह धारणा रही कि प्राणियों को प्राप्त होने वाला सुख-दुःख स्वकृत कर्मफल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जन्म एवं मृत्यु की जड़ कर्म है। जन्म और मरण ही सबसे बड़ा दुःख है। जीवन अपने शुभ और अशुभ कर्मों के साथ परभव में जाता है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसम्बद्ध होता है, परसम्बद्ध नहीं।

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। जीवन व्यवहार में जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह कर्म कहलाता है। व्याकरण शास्त्र के कर्ता पाणिनि ने कर्म की व्याख्या करते हुए कहा-जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म है।[१] मीमांसादर्शन ने क्रिया-काण्ड, यज्ञ आदि अनुष्ठान को कर्म कहा है। वैशेषिक दर्शन में कर्म की परिभाषा इस प्रकार है-जो एक द्रव्य में समवाय से रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो, और जो संयोग या विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे, वही कर्म है।[२] सांख्य दर्शन में संस्कार के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है।[३] गीता में कर्मशीलता को कर्म कहा है।[४] न्यायशास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, तथा गमनरूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मार्त-विद्वान चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्तव्यों को कर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं। पौराणिक लोग व्रत-नियम आदि

* *शिक्षा निदेशक, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन श्रुत संवर्धिनी महासभा, नई दिल्ली।*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धार्मिक क्रियाओं को कर्म रूप कहते हैं। बौद्ध दर्शन जीवों की विचित्रता के कारण को कर्म कहता है जो वासना रूप है। जैन-परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है-भावकर्म और द्रव्यकर्म। राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् कषाय भाव कर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल-जड़तत्त्व विशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा-चेतनतत्त्व के साथ मिल जाता है, द्रव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है- आत्मा के द्वारा प्राप्य होने वाली क्रिया को कर्म कहते हैं उस क्रिया के निमित्त से परिणमन-विशेष प्राप्त पुद्गल भी कर्म हैं[५]। कर्म जो पुद्गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा से भिन्न एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय तत्त्व कर्म का संयोग है, तभी तक संसार है और इस संयोग के नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

कर्मवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य

प्राणी अनादिकाल से कर्म परम्परा में उलझा हुआ है। पुराने कर्मों का भोग एवं नये कर्मों का बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। प्राणी अपने कृतकर्मों को भोगता जाता है तथा नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणी सर्वथा कर्माधीन है अर्थात् वह कर्मबन्ध को नहीं रोक सकता। यदि प्राणी का प्रत्येक कार्य कर्माधीन ही माना जाएगा तो वह अपनी आत्मशक्ति का स्वतन्त्रता पूर्वक उपयोग कैसे कर सकेगा? दूसरे शब्दों में, प्राणी को सर्वथा कर्माधीन मानने पर इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई मूल्य नहीं रह जाता। प्रत्येक क्रिया को कर्ममूलक मानने पर प्राणी का न अपने पर कोई अधिकार रह जाता है, न दूसरों पर। ऐसी दशा में उसकी समस्त क्रियाएँ या स्वचालित कर्म स्वतः अपना फल देते रहेंगे एवं उसकी तत्कालीन निश्चित कर्माधीन परिस्थिति के अनुसार नये कर्म बंधते रहेंगे जो समयानुसार भविष्य में अपना फल प्रदान करते हुए कर्म परम्परा को स्वचालित यन्त्र की भाँति बराबर आगे बढ़ाते रहेंगे। परिणामतः कर्मवाद नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद (Determinism or Necessitarianism) में परिणत हो जायेगा तथा इच्छा स्वातंत्र्य अथवा स्वतन्त्रतावाद (Frredom of Will or Libertarianism) का प्राणी के जीवन में कोई स्थान न रहेगा।

कर्मवाद की विभिन्न अवधारणाएं

विश्व-वैचित्र्य के कारण की खोज करते हुए कुछ विचारकों ने कर्मवाद के स्थान पर अन्य वादों की स्थापना की है। इन वादों में प्रमुख हैं: कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, पुरुषवाद, दैववाद और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थवाद।

कालवाद

कालवाद के समर्थकों का कथन है कि विश्व की समस्त वस्तुएँ तथा प्राणियों के सुख–दुःख कालाश्रित हैं। काल ही सब भूतों की सृष्टि करता है तथा उनका संहार करता है। काल ही प्राणियों के समस्त शुभाशुभ परिणामों का जनक है। काल ही प्रजा का संकोच और विस्तार करता है। अथर्ववेद के अनुसार काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया है, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के ही आधार पर समस्त मत रहते हैं। काल के ही कारण आँखें देखती हैं, काल ही ईश्वर है, काल प्रजापति का भी पिता है, काल सर्वप्रथम देव है, काल से बढ़कर कोई अन्य शक्ति नहीं है।[६] महाभारत में भी कहा गया है कि कर्म अथवा यज्ञादि सुख–दुःख के कारण नहीं हैं। मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। समस्त कार्यों का काल ही कारण है।[७]

स्वभाववाद

स्वभाववादियों का कथन है कि संसार में जो कुछ होता है वह स्वभाव के कारण ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण विश्व वैचित्र्य के निर्माण में समर्थ नहीं है।

नियतिवाद

नियतिवादियों की मान्यता है कि जो होना होता है वही होता है। घटनाओं का अवश्यम्भावित्व पूर्ण निर्धारित है। जगत् की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत होती है।

वेदों में कर्मवाद

कतिपय विचारक यह कहते हैं कि वेदों में कर्मवाद का विचार नहीं हुआ है। उनका कथन है कि वैदिक काल के ऋषियों ने प्राणियों में विद्यमान वैविध्य अथवा वैचित्र्य का अनुभव अवश्य किया किन्तु उन्होंने इसका कारण अन्तरात्मा में ढूंढने के बजाय बाह्य तत्त्व में मानकर ही सन्तोष कर लिया। उनमें से किसी ने यह कल्पना की कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है। किसी ने अनेक भौतिक तत्त्वों को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। किसी ने प्रजापति को सृष्टि की उत्पत्ति के कारण के रूप में स्वीकार किया। वैदिक युग का समस्त तत्त्व चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि में सम्पन्न हुआ। अनेक देवों की और बाद में एक देव की महत्ता स्थापित की गई। अपने सुख के लिए तथा शत्रुओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के नाश के लिए देवस्तुति का सहारा लिया गया एवं सजीव और निर्जीव वस्तुओं की यज्ञ में आहुति दी गई। यह मान्यता संहिता-काल से लेकर ब्राह्मण-काल तक विकसित हुई।

जिनकी यह मान्यता है कि वेदों अर्थात् संहिता-ग्रन्थों में कर्मवाद का उल्लेख है वे कहते हैं कि कर्मवाद, कर्मगति आदि शब्द भले ही वेदों में न हों किन्तु संहिताओं में कर्मवाद का उल्लेख ही नहीं है, यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। कर्मवाद के सम्बन्ध में ऋग्वेद-संहिता में जो मन्त्र हैं वे इस प्रकार हैं :

शुभस्पतिः (शुभ कर्मों के रक्षक), धियस्पतिः (सत्कर्मों के रक्षक), विचर्षणिः तथा विश्वस्य कर्मणो धर्ता (सभी कर्मों के आधार) आदि पदों का देवों के विशेषणों के रूप में प्रयोग हुआ है। कई मन्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। जीवन अनेक बार इस संसार में अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न होता है तथा मृत्यु को प्राप्त करता है। वामदेव ने पूर्व के अपने अनेक जन्मों का वर्णन किया है। पूर्व जन्म के दुष्ट कर्मों के कारण लोग पापकर्म करने में प्रवृत्त होते हैं, इत्यादि उल्लेख वेदों के मन्त्रों में स्पष्ट हैं। पूर्व जन्म के पापकर्मों से छुंटकारा पाने के लिए मनुष्य देवों से प्रार्थना करता है। संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का वर्णन भी मन्त्रों में है। इसी प्रकार देवयान एवं पितृयान का वर्णन तथा किस प्रकार अच्छे कर्म करने वाले लोग देवयान के द्वारा ब्रह्मलोक को और साधारण कर्म करने वाले पितृयान के द्वारा चन्द्रलोक को जाते हैं, इन बातों का वर्णन भी मन्त्रों में है। जीव पूर्व जन्म के नीच कर्मों के भोग के लिए किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर-शरीरों में प्रविष्ट होता है, इसका भी वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। "मा वो भुजेमान्यजातमेनो", "मा वा एनो अन्यकृतं भुजेम" आदि मन्त्रों से यह भी मालूम होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों का भी भोग कर सकता है जिससे बचने के लिए साधक ने इन मन्त्रों में प्रार्थना की है। साधारणतः जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का भोग भी करता है किन्तु विशेष शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है।[८]

कर्म की कतिपय दार्शनिक अवधारणा

न्याय दर्शन के अनुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों से प्रेरणा संप्राप्त कर जीवों में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार कहलाते हैं।[९]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदृच्छावाद

यदृच्छावाद का मन्तव्य है कि किसी कारण विशेष के बीच ही किसी कार्य विशेष की उत्पत्ति हो जाती है। किसी घटना अथवा कार्य विशेष के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं होती। यदृच्छावाद, अकस्मातवाद, अनिमित्तवाद, अकारणवाद, अहेतुवाद आदि एकार्थक हैं। इनमें कार्यकारणभाव का अभाव होता है। इस प्रकार की मान्यता का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् के मंत्र १-२, महाभारत के शान्तिपर्व के श्लोक २३३-२३ तथा न्यायसूत्र ४-१-२२ आदि में उपलब्ध होता है।

भूतवाद

भूतवादियों की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जड़ और चेतन समस्त भावों का आधार ये चार भूत ही हैं। इन भूतों के अतिरिक्त कोई अन्य चेतन या अचेतन तत्त्व जगत् में विद्यमान नहीं है। जिसे अन्य दर्शन आत्मतत्त्व या चेतन तत्त्व कहते हैं उसे भूतवादी भौतिक ही मानते हैं।

पुरुषवाद

पुरुषवादियों की मान्यता है कि सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता एवं संहर्ता पुरुष विशेष अर्थात् ईश्वर है जिसकी ज्ञानादि शक्तियाँ प्रलयावस्था में भी विद्यमान रहती हैं। पुरुषवाद के दो रूप हैं: ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद। ब्रह्मवादियों का मत है कि जैसे मकड़ी जाले के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए एवं वटवृक्ष जटाओं के लिए हेतुभूत हैं वैसे ही ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति तथा संहार के लिए निमित्तभूत है।[१०] इस प्रकार ब्रह्मवाद के मतानुसार ब्रह्म ही संसार के समस्त पदार्थों का उपादानकारण है। ईश्वरवादियों का मन्तव्य है कि स्वयंसिद्ध चेतन और जड़ द्रव्यों (पदार्थों) के पारस्परिक संयोजन में ईश्वर निमित्तभूत है। जगत् का कोई भी कार्य ईश्वर की इच्छा के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वरवाद के मतानुसार ईश्वर संसार की समस्त घटनाओं का निमित्तकारण है। वह स्वयंसिद्ध जड़ और चेतन पदार्थों (उपादानकारण) का नियन्त्रक एवं नियामक (निमित्तकारण) है- विश्व का संयोजन एवं व्यवस्थापक है।

दैववाद

दैववाद और भाग्यवाद एकार्थी हैं। केवल पूर्वकृत कर्मों के आधार पर बैठे रहना एवं किसी प्रकार का पुरुषार्थ अथवा प्रयत्न न करना दैववाद है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थवाद

पुरुषार्थवादियों का मत है कि इष्टानिष्ट की प्राप्ति बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने से ही होती है। भाग्य अवथा दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है। पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्न ही सब कुछ है। प्राणी अपनी बुद्धि एवं शक्ति के अनुसार जैसा प्रयत्न करता है वैसा ही फल पाता है। किसी भी कार्य की सफलता-असफलता प्राणी के पुरुषार्थ पर ही निर्भर होती है। पुरुषार्थवाद का आधार स्वतंत्रतावाद किंवा इच्छा-स्वातन्त्र्य है।

वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुण माने गये हैं उनमें एक अदृष्ट भी है। यह गुण संस्कार से पृथक है और धर्म-अधर्म ये दो उसके भेद हैं। इस तरह न्याय दर्शन में धर्म-अधर्म का समावेश संस्कार में किया गया है। उन्हीं धर्म-अधर्म को वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषों से संस्कार होता है, संस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषों से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवों की संसार परम्परा बीजांकुरवत् अनादि है।

सांख्य-योगदर्शन के अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। क्लिष्टवृत्ति से धर्माधर्म रूपी संस्कार पैदा होता है। संस्कार को आशय, वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा जाता हैं, क्लेश और संस्कार को इस वर्णन में बीजांकुरवत् अनादि माना है।[१०]

मीमांसा दर्शन का मत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही यज्ञ आदि जितने भी अनुष्ठान किये जाते हैं उन सभी कर्मों का फल देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वहाँ पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नहीं कहा है।[१२]

वेदान्त दर्शन का मन्तव्य है कि अनादि अविद्या या माया ही विश्व वैचित्र्य का कारण है।[१३] ईश्वर स्वयं मायाजन्य है। वह कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है, इसलिए फलप्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है।[१४]

आरण्यक और विशेषतः उपनिषद्-काल में देवों और यज्ञ-कर्मों की महत्ता का अन्त निकट आने लगा। इस युग में ऐसे विचार उत्पन्न होने लगे जिनका संहिता व ब्राह्मण-ग्रन्थों में अभाव था। इन विचारों में कर्म अर्थात् अदृष्टविषयक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नूतन चिन्तन भी दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों के पूर्वकालीन वैदिक ग्रन्थों में कर्मविषयक इस चिन्तन का अभाव है। उनमें अदृष्टरूप कर्म का स्पष्ट दर्शन नहीं होता। श्वेताश्वतर–उपनिषद् के प्रारम्भ में विश्ववैचित्र्य का कारण मानने में उपनिषद् भी एकमत नहीं हैं। क्योंकि विश्ववैचित्र्य के जिन अनेक कारणों का उल्लेख है उनमें कर्म का समावेश नहीं है। वहाँ काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष ही निर्दिष्ट हैं।

तुलनात्मक परिचय (ईश्वर और कर्मवाद)

जैनदर्शन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है।[१५] न्यायदर्शन[१६] की तरह वह कर्मफल का नियन्ता ईश्वर को नहीं मानता । कर्मफल का नियमन करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्म–परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुत्पन्न होता है[१७] जिससे वह द्रव्य,[१८] क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति[१९] प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाकप्रदर्शन में समर्थ होकर आत्मा के संस्कारों को मलिन करता है उससे उनका फलोपभोग होता है। पीयूष और विष, पथ्य और अपथ्य भोजन में कुछ भी ज्ञान नहीं होता, तथापि आत्मा का संयोग पाकर वे अपनी–अपनी प्रकृति के अनुकूल विपाक उत्पन्न करते हैं। वह बिना किसी प्रेरणा अथवा बिना ज्ञान के अपना कार्य करते ही हैं। अपना प्रभाव डालते ही हैं।

कर्म का संविभाग नहीं

वैदिक दर्शन का यह मन्तव्य है कि आत्मा सर्वशक्तिमान ईश्वर के हाथ की कठपुतली है। उससे स्वयं कुछ भी कार्य करने की क्षमता नहीं है। स्वर्ग और नरक में भेजने वाला, सुख और दुःख को देने वाला ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव स्वर्ग और नरक में जाता है।[२०]

जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त ने प्रस्तुत कथन का खण्डन करते हुए कहा कि ईश्वर किसी का उत्थान और पतन करने वाला नहीं है। वह तो वीतराग है। आत्मा ही अपना उत्थान और पतन करता है और जब आत्मा स्वभाव-दशा में रमण करता है तब उत्थान करता है और विभावदशा में रमण करने वाला आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है, और स्वभावदशा में रमण करने वाला आत्मा कामधेनु और नन्दनवन है।[२१] यह आत्मा सुख और दुःख का कर्ता, भोक्ता स्वयं ही है। शुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा मित्र है, और अशुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा शत्रु है।[२२]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनदर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है कि जो सुख और दुःख प्राप्त हो रहा है उसका निर्माता आत्मा स्वयं ही है। जैसा आत्मा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल भोगना पड़ेगा।[२३] वैदिकदर्शन और बौद्धदर्शन की तरह वह कर्म फल के संविभाग में विश्वास नहीं करता। विश्वास ही नहीं, किन्तु उसका विचारधारा का खण्डन भी करता है।[२४] एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति में विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि विभाग को स्वीकार किया जायेगा तो पुरुषार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है? पाप–पुण्य करेगा कोई और भरेगा कोई। अतः यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है।[२५]

कर्मवाद का विकास

वैदिक युग में यज्ञवाद-देववाद दोनों का प्राधान्य था। जब यज्ञ तथा देव की अपेक्षा कर्म का महत्त्व बढ़ने लगा तब यज्ञवाद एवं देववाद के समर्थकों ने इन दोनों वादों का कर्मवाद के साथ समन्वय करने की चेष्टा से यज्ञ को ही देव तथा कर्म बना दिया एवं यज्ञ से ही समस्त फल की प्राप्ति स्वीकार की। इस मान्यता का दार्शनिक रूप मीमांसा दर्शन है। वैदिक परम्परा में प्रदत्त यज्ञ एवं देव विषयक महत्त्व के कारण यज्ञ कर्म के विकास के साथ–साथ देव विषयक विचारणा का भी विकास हुआ। ब्राह्मण काल में अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति देवाधिदेव के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। प्रजापतिवादियों ने भी कर्म के साथ प्रजापति का समन्वय करने का प्रयत्न किया एवं कहा कि प्राणी अपने कर्म के अनुसार फल अवश्य प्राप्त करता है किन्तु यह फल प्राप्ति स्वतः न होकर देवाधिदेव ईश्वर के द्वारा होती है। ईश्वर जीवों को अपने-अपने कर्म के अनुसार ही फल प्रदान करता है, मनमाने ढंग से नहीं। वह न्यायाधीश की भांति आचरण करता है, स्वेच्छाचारी की भांति नहीं। इस मान्यता के समर्थक दर्शनों में न्याय–वैशेषिक, सेश्वर सांख्य तथा वेदान्त का समावेश होता है।

उपर्युक्त मतों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू परम्परा में कर्मविषयक मान्यताओं का अभाव तो नहीं है किन्तु यज्ञवाद एवं देववाद के प्रभुत्व के कारण कर्मवाद क्या है, कैसे उपार्जित होता है, किस प्रकार छूटता है, आदि प्रश्नों का हिन्दू परम्परा में स्पष्ट समाधान नहीं है। उनमें अधिकांशतः यज्ञकर्म को ही कर्म मान लिया गया है तथा देवों की सहायता की अत्यधिक अपेक्षा रखी गई है। कर्मवाद का जो रूप जैन, बौद्ध एवं अन्य भारतीय दर्शनों में उपलब्ध होता है उसका हिन्दू परम्परा में निःसन्देह अभाव है। जैन दर्शन में कर्म व्यवस्था का तो जैसा स्वरूप मिलता है वैसा अन्य किसी भी भारतीय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्परा के दर्शन में नहीं प्राप्त होता। जैन परम्परा इस विषय में सर्वथा विलक्षण है।

सन्दर्भ

१. कर्तुरीप्सितमं कर्म **–अष्टाध्यायी** १/४/७९
२. **वैशेषिकदर्शनभाष्य** १/१७. पृ. ३४
३. **सांख्यतत्त्वकौमुदी**– ६७
४. योगः कर्मसु कौशलम् । **–गीता** २/५०
५. **प्रवचनसार** टीका २/२५
६. **अथर्ववेद** (कालसूक्त) १९/५३–५४
७. **महाभारत** (शान्ति पर्व) अध्याय २५,२८,३२ आदि।
८. **भारतीय दर्शन** (उमेश मिश्र पृ.३९–४१)
९. **न्यायभाष्य** १/१/२ आदि
१०. **प्रशस्तपादभाष्य**, पृ. ४७।
११. **योगदर्शनभाष्य**, १/५ आदि।
१२. क– **शाबरभाष्य**, २/१/५, ख– **तंत्रवार्तिक** २/१/५ आदि
१३. **शांकरभाष्य**, २/१/१४
१४. **शांकरभाष्य**,, ३/२/३८–४१
१५. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य । **–उत्तराध्ययन**, २०/३७
१६. (क) ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात् । **–न्यायदर्शन**, सूत्र ४/१
(ख) तत्कारित्वादहेतुः **–गौतमसूत्र**, अ.४, आ. १ सू. २१
१७. **भगवती** ७–१०
१८. दव्वं, खेतं, कालो, भवो य भावो य हेयवो पंच ।
हेतुसमासेणुदओ जायइ सव्वाणं पगइणं ॥ **–पंचसंग्रह**
१९. **प्रज्ञापना सूत्र** पृ. २३
२०. **महाभारत** (वनपर्व) अ. ३० श्लोक २८
२१. **उत्तराध्ययन** २०/३६
२२. **वही** २०/३७
२३. **वही** ४/४
२४. **उत्तराध्ययन** ६/३
२५. **द्वात्रिंशिका**, आचार्य अमितगति ३०–३१

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4860.

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

भारतीय विद्या में शब्दविषयक अवधारणा का विकास

डॉ. जयन्त उपाध्याय

भाषा और भाषायी व्यवहार मनुष्य के आविर्भाव के साथ-साथ उद्भूत हुआ है। भारतीय मनीषा की दृष्टि में भाषायी-व्यवहार की परम्परा अनादि है। भाषायी-व्यवहार की आधारशिला शब्द है। शब्द के द्वारा अर्थाभिव्यक्ति वाग्व्यवहार का प्रयोजन है। शब्द और तदर्थ की मीमांसा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। वेद के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद भागों में इसके पर्याप्त बीज मिलते हैं। मानव संस्कृति के विकास में यदि वेद को प्राचीनतम लिखित साक्ष्य मानें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि तत्कालीन मानव ने भाषा के बारे सोचना प्रारम्भ कर दिया था। 'ऋग्वेद' के एक वाक्सूक्त में यह स्वीकार किया गया है कि उदीरणा या वाणी ईश्वरकृत है जिसे उसने सर्वत्र प्रसरित कर दिया।[१] वैदिक ऋषियों का कहना है कि जब तक ब्रह्म की अवस्थिति है, तब तक वाक् की स्थिति है।[२] व्यक्ति का देखना, श्वास लेना और दूसरे की बातें सुनना- सब वाक् का ही प्रभाव है।[३] वैदिक वाङ्मय के ये साक्ष्य यह स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन लोगों ने वाक् के विशेष महत्त्व को पहचाना था।

वैदिक ऋषियों का मत है कि वाग्व्यवहार और अर्थबोध वाक् पर निर्भर होता है अत: व्यक्ति को सदा सार्थक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। निरर्थक शब्द उस वृक्ष की भाँति व्यर्थ है जो फलता-फूलता नहीं।[४] जो भाषा के सौन्दर्य को नहीं जानता, वह भाषा को देखते हुए भी नहीं देखता है और सुनते हुए भी नहीं सुनता है, जबकि वाणी अपने सौन्दर्य के पारखी व्यक्ति के लिए सभी रहस्य स्वयं उसी प्रकार खोल देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत स्त्री अपने पति के लिए अपना शरीर अनावृत कर देती है।[५]

---

* *जनरल फेलो (आई.सी.पी.आर.) दर्शन एवं धर्म विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऋग्वेद के एक सूक्त में बृहस्पति को वाक् का रक्षक कहा गया है। वहाँ उल्लेख है कि पणि नामक एक राक्षस ने देवराज इन्द्र की सब गायें चुराकर अज्ञान की गुफा में छिपा दी।[६] इन्द्र ने बृहस्पति से प्रार्थना की और बृहस्पति ने इन्द्र की गायें पणि से छीनकर उसे वापस कर दी। इस कथानक का एक लाक्षणिक संकेत यह है कि गायें ही वाणी हैं, जो अज्ञान में छिपी रहती हैं, जैसे ही वाणी का स्पष्ट स्वरूप व्यक्ति को प्रत्यक्ष होता है, यह पूरा विश्व उसके लिये वाणी से परिपूर्ण हो जाता है। मानव मस्तिष्क का अज्ञान दूर हो जाता है और ऐसे व्यक्ति के लिए अनुभव का संसार अपने रहस्य-मुक्त कर देता है। ऋग्वेद की एक ऋचा[७] में वाणी के चार भाग बताये गये हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस ऋचा को उद्धृत करते हुए इसके चार भाग– नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात स्वीकार किये हैं, जबकि नागेश भट्ट के अनुसार ये चार भाग परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी हैं।

ऋग्वेद के अतिरिक्त उदीरणा के गवेषित स्वरूप का परिचय 'शतपथब्राह्मण' 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण', 'तैत्तिरीय–आरण्यक' आदि से भी मिलता है। उपनिषदें भी इस विषय में पीछे नहीं हैं।[८] 'तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि प्रारम्भ में वाणी का विश्लेषण नहीं हुआ था। एक बार देवताओं ने इन्द्र से इसके व्याकरण की प्रार्थना की और तब इन्द्र ने देवताओं के लिए वाणी को व्याकृत कर दिया।[९] इन्द्र को प्रथम वैयाकरण माना जाता है, जिसने सर्वप्रथम भाषा का विश्लेषण करके उसे व्याकरण से शासित किया।[१०] इस प्रकार से भाषायी विश्लेषण का विधिवत प्रारम्भ वैदिक वाङ्मय में दिखायी देता है, जिसका परवर्ती काल में व्याकरण और मीमांसा जैसे दर्शनों में पूर्ण विकास हुआ।

भाषा का शुद्धतम और सर्वोत्तम स्वरूप उपनिषदों में अधिक सूक्ष्मता के साथ विवेचित हुआ है। वह वाणी जिसका हम प्रयोग करते हैं, कभी भी अवाङ्मनसगोचर परमतत्त्व (ब्रह्म) को प्राप्त नहीं कर सकती।[११] यदि वह अक्षर तत्त्व एक, शुद्ध और चेतन है तथा पूरा विश्व उसका विवर्त्त है, तो वाणी भी उसका विवर्त्त (अतात्त्विक) होने से उसे कैसे ग्रहण कर सकती है? उस तत्त्व का वर्णन तो निषेधमुखेन ही किया जा सका है। 'न इति' 'न इति' रूप में उपनिषदों में उसका निषेध रूप में वर्णन है। वस्तुत: वह तत्त्व मानव वाणी से परे है, तथापि 'माण्डूक्योपनिषद्' में उसके लिये ओम् शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसकी–आकार, उकार, मकार–तीन मात्राओं से तीन पादों का बोध करना बताया गया है। उक्त तीनों मात्राओं से परे ऊँ पद की एक तुरीय मात्रा भी होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, जिसके द्वारा परमतत्त्व के तुरीयपाद का बोध स्वीकार किया गया है।[१२] भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के प्रारम्भ में जिस अक्षर शब्द का उल्लेख किया है उससे 'ॐ' पद ही अभिमत है।[१३] हमारी वाणी सत्तत्त्व की असत्य अभिव्यक्ति है। वह सत्तत्त्व या परावाणी ही 'ॐ' पद है और मनुष्य की वाणी इसी शब्द का प्रतिबिम्ब है और इसीलिए सार्थक भी है। अत: इससे स्पष्ट है कि शब्द से अर्थ का विचारणा की मूल वेद में है।

सभी वेद शब्दरूप ही थे। लेखन शैली का विकास न होने से पूरा वैदिक वाङ्मय श्रवण परम्परा द्वारा जीवित था। वेद में अर्थ की अपेक्षा शब्द का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। वैदिक मन्त्रों में मन्त्रार्थ की अपेक्षा के बिना ही मन्त्रों का विनियोग किया जाता रहा। इससे वैदिक ऋचाओं का महत्त्व बढ़ता गया। धीरे-धीरे वैदिक मन्त्रों में उच्चारण और अर्थ की कठिनाई को दूर करने के लिए वेदों का विकास हुआ। शिक्षा नामक वेदाङ्ग ने वैदिक मन्त्रों की स्वर सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाया, प्रातिशाख्यों में वैदिक भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। व्याकरण विद्या भाषा के गठन से सम्बद्ध थी, जिसका प्रमुख विषय भाषा का शुद्धतम् रूप प्रस्तुत करना था। निरुक्त में शब्दों के अर्थ पर विचार किया गया है। निरुक्तकार यास्क ने वैदिक शब्दों का अर्थ भाव अथवा क्रिया से अन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार शिक्षा, प्रातिशाख्य, व्याकरण और निरुक्त ने वेदों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखते हुए वैदिक परम्पराओं एवं कर्मकाण्ड के व्यावहारिक रूप को प्रस्तुत किया।

प्रातिशाख्यों की परम्परा बड़ी पुरानी है। यद्यपि उपलब्ध प्रातिशाख्य पर्याप्त बाद के हैं, सम्भवत: पाणिनि से भी उत्तरवर्ती, फिर भी उनमें प्रातिशाख्यों के मौलिक रूप का संकेत यत्र-तत्र मिलता है। ऋक् प्रातिशाख्य का प्रारम्भिक वाक्य है– 'पदप्रकृति: संहिता' अर्थात् वाक्य पदों से मिलकर बना है– इस वाक्य पर आधारित वाक्य और वाक्यावयभूत पदों के सम्बन्ध का प्रश्न आगे चलकर मीमांसा और व्याकरण जैसे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा विस्तार से विवेचिन हुआ। अन्विताभिधानवाद, अभिहितान्वयवाद और स्फोटवाद के सिद्धान्त मूलत: 'पदप्रकृति: संहिता' पर ही आधृत हैं।

यास्क ने अपने निरुक्त में पूर्ववर्ती और समकालिक शब्दशास्त्रियों का उल्लेख किया है, उदाहरणार्थ–उपमन्यु, औदुम्बरायणि, शाकटायन, गार्ग्य आदि शब्द विज्ञान को यास्क की सबसे बड़ी देन यह है कि इन्होंने चार प्रकार के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद स्वीकृत किया है– नाम, आख्यान उपसर्ग और निपात। इन्होंने सभी संज्ञापदों को आख्यातज्ञ स्वीकार किया है। इनके मत में क्रियापद भावप्रधान होते हैं, और संज्ञापद-प्रधान होते हैं। यहँ भारतीय शब्द दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम इतनी स्पष्टता से पदों का लक्षण प्रस्तुत किया गया। इसलिये यास्क को भाषायी वाक्य-रचना के तार्किक विश्लेषण का प्रवर्तक माना जा सकता है।

धीरे-धीरे वैदिक भाषा का प्रयोग में ह्रास होने लगा और उसका स्थान लौकिक संस्कृत भाषा लेती गयी। वेदों और वेदांगों का अध्ययन प्राचीन काल विषयक हो गया। कर्मकाण्ड से समीपता बनाये रखने के लिए ही निरुक्त और प्रातिशाख्यों का अध्ययन होता रहा। व्याकरण से संवलित संस्कृत भाषा को साधुभाषा कहा जाता था और कर्मकाण्ड में वैदिक भाषा के ही समान इसका उपयोग होता था, परन्तु अन्य लौकिक भाषाओं की अपभ्रंशता के कारण कर्मकाण्ड में उनका प्रयोग नहीं होता था।

संस्कृत भाषा के लिए पाणिनि का अभ्युदय बड़ा महत्त्व रखता है। इन्होंने भाषा के अर्थ की अपेक्षा उसकी रचना, आकार एवं व्युत्पत्ति को महत्त्व दिया। पाणिनि ने शब्द और अर्थ के बीच संकेत सम्बन्ध और शब्द की नित्यता या अनित्यता जैसे प्रश्नों पर बिल्कुल विचार नहीं किया। उन्होंने अपने समय पर बोली जाने वाली भाषा को वैज्ञानिक आधार देते हुए उसका संस्कार किया। यद्यपि पाणिनि ने उपनिषदों की भाँति कहीं भी भाषा के आध्यात्मिक स्वरूप से सम्बन्धित चर्चा नहीं की, तथापि इस विषय में उनका अपना निश्चित मन्तव्य रहा होगा। पाणिनि के इन विचारों पर पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में प्रकाश डाला है।

षड्दर्शन से सम्बद्ध प्रमुख सूत्रग्रंथों में मीमांसा सूत्रों में मानव-कर्तव्यों पर विचार करना प्रारम्भ किया गया। जो व्यक्ति को किसी क्रिया के प्रति प्रेरित करे, उसे धर्म कहा गया। इन्द्रियार्थसन्निकर्षज होने से प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म का स्वरूप निश्चित नहीं कर सकता। अनुमान, उपमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं, अत: प्रेरकता में समर्थ नहीं हैं किन्तु शब्दों में प्रत्यक्षयोग्यता तथा शब्दों को संकेतित करने की नित्य शक्ति होती है जिससे उच्चरित पदों के अर्थबोध के लिए अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए प्रेरकत्व-विधान में केवल शब्द ही समर्थ हैं।[१४] शब्द से अर्थप्रतीति प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिए शब्द की नित्यता सिद्ध होती है।[१५] शब्द और संकेतित अर्थ का सम्बन्ध अवैयक्तिक होता है। यह सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक है, पद और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्संकेतित अर्थ के संकेत सम्बन्ध से अनभिज्ञ शिशु भी पदों से अर्थ का व्यवहार करता है। अतः शब्द का नियत अर्थ से नित्य सम्बन्ध होना इनका स्वभाव है।[१६] मीमांसक् की दृष्टि से धर्म के प्रकाशन में वेद ही एकमात्र नित्य और निरपेक्ष प्रमाण है।

वैशेषिक सूत्रकार कणाद का अभिमत है कि जिससे अभ्युदय (तत्त्वज्ञान) और निःश्रेयस् (आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति) हो, वह धर्म है। वेद धर्म का प्रतिपादक है, इसीलिये वेद का प्रामाण्य है।[१७] लेकिन कणाद न तो शब्द-नित्यता को स्वीकार करते हैं और न ही शब्द और अर्थ के मध्य का सम्बन्ध स्वाभाविक ही मानते हैं। शब्द उत्पाद-विनाश वाले होने से अनित्य हैं।[१८] शब्द से संकेतित अर्थ व्यक्तिकृत होता है। चूँकि ईश्वररूप पुरुष ने वेद को बनाया है, अतः वेद धर्म के स्रोत हैं।[१९] शब्दविज्ञान के सम्बन्ध में न्यायसूत्रों ने मुख्यतः वैशेषिक मान्यता का ही अनुकरण किया है और एतद्विषयक कोई नवीन उद्भावना उत्प्रेक्षित नहीं की।

व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि के बाद कात्यायन और पतञ्जलि का उद्भव होता है। पतञ्जलि ग्रन्थारम्भ में ही यह घोषणा करते है कि शब्दानुशासन का उद्देश्य साधु शब्दों का बोध कराना है, क्योंकि साधुशब्द ही व्यवहार-योग्य होते हैं तथा इस लोक और परलोक में सिद्धिदायक होते हैं।[२०] वैयाकरणों का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि भाषा का एक विशेष प्रयोग ही फलदायक है। सभी भाषाओं के सभी शब्द अर्थवान् हो भी जांय तो भी वे साधु नहीं हो सकते। कोई शब्द असाधु होकर भी अर्थवान हो सकता है, पर असाधुशब्द फलदायी नहीं हो सकते। इस क्षेत्र में व्याकरण ने मीमांसा की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र एवं तार्किक गवेषणा प्रस्तुत की है।

पतञ्जलि और कात्यायन दोनों ने यह माना है कि पाणिनि को शब्द नित्यत्ववाद[२२] तथा 'नित्यजातिपदार्थवाद' अभिमत थे। पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याडि एवं वाज्रप्यायन के पदार्थ-विषयक मत को उल्लेखित किया है। व्याडि के मतानुसार पदार्थ व्यक्ति है और वाज्रप्यायन के मत में पदार्थ जाति है। जबकि पतञ्जलि के अनुसार स्वयं स्थिति के अनुकूल पदार्थ जाति और व्यक्ति दोनों पदार्थ हो सकते हैं। ये सभी विद्वान एक स्वर से यह मानते हैं कि भाषा बिना जाति के व्यवहृत नहीं हो सकती। जातिविहीन व्यक्तिमात्र न तो ज्ञान का विषय हो सकता है और न व्यवहार का। बौद्धों ने जातिविषयक इस मान्यता का विरोध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया है। बौद्ध तार्किकों के अनुसार जाति केवल काल्पनिक पदार्थ है, जिसकी बाह्य सत्ता नहीं है। क्षणिक विज्ञान ही सत् है और वह व्यक्त है, उसे शब्दों से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, अतः वह अव्यवहार्य है। बौद्धों के मत से शब्द किसी तत्त्व अथवा भावरूपता का उद्देश्य नहीं करते, वरन् जो शब्द का अर्थ है वह तद्भिन्न सारे अर्थों से भिन्न है। इसी तदभिन्नाभिन्नत्व या अपोह को ही बौद्ध पद का अर्थ मानते हैं। नैयायिकों और मीमांसकों के विरुद्ध दिङ्नाग का तर्क इसी पर अवलम्बित है। पदार्थ के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनों से सम्बद्ध जिन आचार्यों के मध्य दीर्घकाल तक विवाद चलता रहा, उनमें से प्रमुख हैं– दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्तभट्ट, कुमारिल एवं प्रभाकर किन्तु इन सभी दार्शनिकों ने वाणी के मुखरित स्वरूप-वैखरी पर ही विचार किया। उसके शेष रूपों-परा, पश्यन्ती और मध्यमा का विवेचन उपेक्षित ही बना रहा। इस महनीय आवश्यकता पर व्याडि, उपवर्ष, वसुरात्र एवं भर्तृहरि ने ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रसंग में व्याडि, उपवर्ष एवं वसुरात्र के नाममात्र से ही हम परिचित हैं,जबकि भर्तृहरि की मान्यताओं को प्रकाशित करने वाला उनका ग्रंथ 'वाक्यपदीय' उपलब्ध है। इस ग्रन्थ से हमें शब्द के मोक्षदायक स्वरूप का ज्ञान होता है।

भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में उपनिषदों के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का नामोल्लेख किया है जिससे इस शब्द शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा का ज्ञान होता है। भर्तृहरि के अनुसार शब्दत्व में ही सारा शब्द जगत् और अर्थ जगत् विवर्त्त रूप में समाहित है।[२३] भर्तृहरि शब्द की सबसे छोटी सार्थक इकाई वाक्य को मानते हैं। वाक्य में पदों का भेद और पदों में वर्णों का भेद अतात्त्विक है। जितना जो कुछ भी बोला जाता है, वह सब मिलकर एक और अविभाज्य है। पदों और वाक्यों का अर्थ कोई व्यक्ति को मानता है, कोई जाति को, जबकि भर्तृहरि के मत में शब्द का तात्त्विक अर्थ न तो जाति है और न व्यक्ति। यह अर्थ है–'शुद्ध सत्ता'। हमारी उदीरणा का अर्थ परमसत्ता है जिसे भर्तृहरि शब्द-ब्रह्म कहते हैं। अर्थवान तथा नित्य तात्त्विक शब्द परमसत्ता से नित्य सम्बन्ध रखते हैं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक नहीं है, वरन् स्वाभाविक है। शब्द स्वभावतः अर्थ का उद्भावक होता है। यदि कोई अर्थ ज्ञेय है तो वह बिना पदवाच्यता के स्थिर नहीं रह सकता। परमसत्ता अपने आपको पदों और पदार्थों के रूप में विवृत्त कर देती है। पद और पदार्थ में कोई भेद है और परमसत्ता स्वयं भी शब्दतत्त्व है। भर्तृहरि के मत में भाषा की न्यूनतम इकाई वाक्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उच्चार्यमाण वाक्य अतात्त्विक है और तात्त्विक वाक्य का विवर्त्त है। इस तात्त्विक शब्दत्त्व को भर्तृहरि स्फोट कहते हैं। वस्तुतः शब्द–दर्शन के क्षेत्र में स्फोटवाद भर्तृहरि की अनोखी देन है। इस स्फोट ब्रह्म के साक्षात्कार के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक विमुक्ति होती है तथा मोक्ष प्राप्त होता है। भर्तृहरि का यह स्फोट दर्शन वेदों तथा महाभाष्य पर अवलम्बित है। वस्तुतः भर्तृहरि ने पद-रचना से सम्बन्ध रखने वाले व्याकरण वेदों को दर्शन की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया तथा परमसत्तावादी शब्द दर्शन के क्षेत्र में भर्तृहरि प्रथम और अन्तिम मौलिक विचारक हैं। यही कारण है कि भर्तृहरि के आलोचक भी उनका ससम्मान स्मरण करते हैं।

भारतीय दर्शन के मध्ययुग में शब्द-दर्शन पर हमें वैयाकरणों के अतिरिक्त तीन स्वतन्त्र मान्यताएँ दृष्टिगत होती हैं। नैयायिक, मीमांसक तथा बौद्ध– ये सब पद पदार्थ के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयत्न कर रहे थे। इन सबने परमसत्तावादियों का इस बात पर विरोध किया कि पद वाक्य का अवयव नहीं है और पदों से वाक्य की रचना नहीं होती। इनके मत में पद वास्तविक और वाक्य के घटक हैं। इस काल में बौद्धों और जैनों के अतिरिक्त सभी दार्शनिक, भाषा को साधुत्व से सम्बद्ध मानते रहे। भाषा का प्रयोग पवित्र माना जाता था और यह विश्वास किया जाता रहा कि शुद्ध भाषा का प्रयोग इहलोक और परलोक में पुण्यफल देने वाला है। जैन और बौद्ध लोकभाषा के साधु प्रयोग को प्रामाणिक नहीं मानते थे। भाषा के प्रयोग एवं भाषा के स्वरूप से सम्बद्ध इनके समस्त तर्क उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेरित हैं।

बारहवीं सदी के प्रारम्भ में गङ्गेश ने तर्कशास्त्र पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तत्त्वचिन्तामणि' लिखी। शब्द का प्रामाण्य न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त सबको अभिमत है। नास्तिकों को शब्द और वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं हैं। गङ्गेश भर्तृहरि के वाक्य रचना सम्बन्धी प्रश्नों का इस रीति से समाधान करते हैं, जो नैयायिकों की बाह्यार्थवादी मान्यता के अनुकूल है। शब्द-दर्शन के क्षेत्र में न्याय के जगदीश तर्कालंकार और गदाधर तथा मीमांसा के गंगाभट्ट और पार्थसारथि मिश्र परवर्तीकाल में उल्लेखनीय आचार्य हुए।

परवर्ती शताब्दियों में भर्तृहरि और पतञ्जलि के दर्शन को भट्टोजी दीक्षित एवं नागेशभट्ट ने व्याख्यायित किया। नागेश के 'व्याकरण सिद्धान्तमंजूषा' में भाषाशास्त्र के सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है। प्रायः सभी दर्शनों में ह्रास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के समय तन्त्र का अभ्युदय हुआ। तान्त्रिकों ने मानव जीवन में मन्त्रों के महत्त्व पर बल दिया। मन्त्रों की शक्ति अक्षय है और उनसे मानव सब कुछ, यहाँ तक कि मोक्ष भी पा सकता है, परन्तु इनके लिए निश्चित प्रक्रिया में बताये गये मन्त्रों का अभ्यास आवश्यक है। तन्त्र की मान्यता है कि पूरा विश्व शब्दों से उद्भूत है और परमसत्ता 'शिव' अपनी 'शक्ति' से संवलित होकर इन शक्तिशाली मन्त्रों को अर्थ देते हैं। इस प्रकार भारतीय भाषायी विचारधारा परमसत्तावादिता का जन्म उपनिषदों में और अन्त तन्त्र में होता है, अर्थात् अन्ततः साधना के आध्यात्मिक क्षेत्र में भारत के सभी दार्शनिक एकमत हो गये अथवा यह कहें कि वैदिक दर्शन विविध सम्प्रदायों और मतवादों का चक्कर लगाकर अन्त में तन्त्र में सिमट गया।

भारत की जीवन-पद्धति से सम्बद्ध उन विधाओं की तरह भाषा और शब्द का शास्त्र भी कभी दार्शनिक विचारणा से पृथक् नहीं रहा। इसने लोगों के जीवन पर स्थायी प्रभाव डाला। लोग परमसत्ता की उपेक्षा भाषा के क्षेत्र में भी नहीं कर पाये। विश्व की परिवर्तनधर्मिता के बावजूद अपरिवर्तित रहने वाली परमसत्ता को लोगों ने पहचाना। आस्तिक लोग परमसत्ता के द्वारा कष्ट, दुःख और असफलताओं के विरुद्ध शान्ति खोजने का प्रयास करते रहे। आज भी कोई भारतीय-विशेषतः हिन्दू जब किसी विपत्ति में होता है तो वह ईश्वर का नाम लेता हुआ विश्वास करता है कि नाम और नामी के अभेद सम्बन्ध वाला शब्द-ब्रह्म उसके सामने उपस्थित है जो अवश्य ही उसे विपत्ति से उबार लेगा। परिणामतः पूरी दार्शनिक पर्यालोचना में शब्द के व्यवहार और परमार्थ दोनों पक्षों का निरपवाद रूप से चिन्तन भारतीय शब्द-दर्शन की अजस्र उपलब्धि है।

सन्दर्भः

१. ता मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्यत्रा भूर्यावेशयन्तीम्। **ऋक्०** १०/१०/१२५/३
२. भावद् ब्रह्म विष्ठीतं तावती वाक्। –**वही**, १०/१०/१४८/८
३. ऋग्वेद १०/१०/१२५/४
४. उत त्वं सव्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं चिन्वन्त्यपि वजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैषा शुश्रुयामफलामपुष्माम् ।। –**ऋक्०** १०/६/७१/५
५. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन् शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।। – **वही** १०/६/७१/४
६. गुहां तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ। –**वही**, १०/५/६७
७. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुहां त्रीणि निहता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति ॥ – **वही,** १/१६४/४५

८. **छान्दोग्योपनिषद्** ६/८

९. **तैत्तिरीय-संहिता,** ६/४/४७

१०. **महाभाष्य,** १/१/१

११. यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। –**तैत्ति॰ उप॰,** २/९

१२. नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानाघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम्।
द्वश्यमव्वहार्यमग्रायमलक्षणमचिन्त्मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसागरं प्रपञ्चोशमं
शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः। – **माण्डूक्यो॰** १/७

१३. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ – **वाक्यपदीय** १/१

१४. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेनधे सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। –**मी. सू.,** १/१/५

१५. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् – **वही,** १/१/१८

१६. उक्तं तु शब्दपूर्वकत्वम्। –**वही,** १/१/२९

१७. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः – **वै॰सू॰** १/१/२
तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। –**वही,** १/१/३

१८. सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः। – **वही,** ७/२/२८

१९. अनित्यश्चायं करणतः । – **वही,** २/२/२८
अपि च, संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। –**वही,** २/२/३९

२०. बुद्धिपूर्वा वाक्याकृतिर्वेदे। –**वही** ६/१/१

२१. एक शब्द सुष्ठु प्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति। –**महाभाष्य,** १/१/१
एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशास्तद्यथाप गौरित्यस्य गावी, गोनी, आचरे नियमः। **वही,** १/१/१

२२. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। –**वही,** १/१/१

२३. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ **वाक्यपदीय,** १/१

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

दुःख का कारण कमी नहीं कामना

कन्हैला लाल लोढा

आवश्यकताएँ : प्राकृतिक और कृत्रिम

दुखः का कारण है आवश्यकताओं की पूर्ति न होना। आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं १. प्राकृतिक तथा २. कृत्रिम। प्राकृतिक आवश्यकताएँ वे हैं जो शरीर को टिकाए रखने के लिए आवश्यक हैं, जैसे भूख, प्यास आदि। कृत्रिम आवश्यकताएँ वे हैं जिन्हें मानव स्वयं अपनी इच्छा से उत्पन्न करता है। इनकी पहचान यह है कि इनकी पूर्ति के बिना भी मानव जीवित रह सकता है जैसे– टेलीविजन, टेलीफोन आदि।

सुख–दुःख/धनवानों व गरीबों के सन्दर्भ में

इस युग में मानव की प्राकृतिक आवश्यकताएँ तो अल्प श्रम से ही पूरी हो जाती हैं। अतः वर्तमान में मानव के दुःख का मुख्य कारण प्राकृतिक आवश्यकताएँ नहीं हैं प्रत्युत कृत्रिम आवश्यकताएँ हैं। आज से दो सौ वर्ष पूर्व कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुएँ रेडियो, टेलीविजन आदि न होने पर भी मानव अपना जीवन आनन्द पूर्वक व्यतीत करते थे, इनके न होने से उन्हें कोई दुःख नहीं था। इससे यह परिणाम निकलता है कि कृत्रिम आवश्यकताओं के अभाव से दुःख होता तो जिस व्यक्ति को वस्तुओं की जितनी अधिक कमी है उसे उतना ही अधिक दुःख होना चाहिए। संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं या धन का स्वामी कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता। अतः संसार में प्रत्येक व्यक्ति को अनगिनत वस्तुओं की कमी रहती ही है, फलतः, उन्हें असीम दुःख होना चाहिए। यथा धनवानों की अपेक्षा गरीबों व साधुओं के यहां वस्तुओं का अधिक अभाव होता है, अतः अपेक्षाकृत उन्हें अधिक दुःखी होना चाहिए। परन्तु देखा यह जाता हैं कि अधिकांश धनवानों का जीवन गरीबों की अपेक्षा अधिक तनावपूर्ण है। वे अधिक पीड़ित और दुःखी हैं तथा धनवानों की अपेक्षा साधु अधिक दुःखी नहीं, प्रत्युत अधिक सुखी हैं। तात्पर्य यह है कि दुःखों की उत्पत्ति का सम्बन्ध वस्तुओं के अभाव से नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुख-सामग्री : प्राचीन एवं अर्वाचीन काल में

आइए, उपर्युक्त तथ्यों को समझने के लिय प्राचीन और अर्वाचीन काल में उपलब्ध सुख-सामग्री पर विचार करें। प्राचीन काल के सम्राटों, सेठों या सामान्य–जन के पास भूमि, भवन, पशु, मुद्रा, सोना, चाँदी, रत्न आदि धन–वैभव आज से किसी प्रकार कम नहीं था। परन्तु यदि धन वैभव प्राप्ति का प्रयोजन इन्द्रिय–सुख–भोग की सामग्री पाना माना जाय तो कहना होगा कि प्राचीनकाल के सम्राट की अपेक्षा वर्तमान काल के साधारणजन को इंद्रिय सुख–भोग की सामग्री प्राचीन काल के लोगों की अपेक्षा प्रचुररूप में उपलब्ध है। अत: आज का मानव प्राचीन काल के मानव से अधिक सुखी होना चाहिए, परन्तु वह अधिक दु:खी है। इस विसंगति का कारण तब और अब की सुखोपभोग की वस्तुओं में खोजा जा सकता है-

यदि **खाद्य पदार्थ** को लें तो संख्या व स्वाद इन दोनों दृष्टियों से पहले से अधिक परिमाण वाले सुस्वादु खाद्य पदार्थ आज जनसाधारण को सहज उपलब्ध हैं।

आँखों द्वारा भोग्य **दृश्य वस्तुओं** को लें तो उस समय सम्राट को केवल अपने राज्य में स्थित महल या बाग-बगीचे आदि ही देखने को मिलते थे जो अति सीमित होते थे, परन्तु आज तो चित्रपट एवं इन्टरनेट पर दुनियां भर के समस्त प्राकृतिक स्थान, विशाल भवन, बड़े–बड़े नगर आदि कुछ मिनटों में ही देखे जा सकते हैं। पहले सम्राट पूरे जीवन में जितनी वस्तुएँ नहीं देख पाते थे उससे कहीं अधिक आज का साधारण गरीब व्यक्ति भी चित्रपट तथा अन्य आधुनिकतम साधनों पर देख लेता है।

कर्ण द्वारा भोग्य पदार्थों को लें तो वाद्य–ध्वनियाँ, संगीत आदि सुनने के लिए सम्राट को गायक व गायिकायें रखनी पड़ती थीं जो समय–समय पर ही निश्चित राग–रागिनियाँ व गाना सुना सकते थे परन्तु आज रेडियो, टेलीवीजन के माध्यम से नित नये संगीत सुने जा सकते हैं तथा ये सबके लिए सुलभ भी हैं।

मनोरंजन के अन्य साधन जो प्राचीन समय में उपलब्ध थे उनसे कई गुना नये साधन आज उपलब्ध हैं।

सम्राटों के वस्त्र जो इस समय अजायबघरों में रखे हुए हैं। उनको आज किसी भिखारी को पहना दिए जांय और उन्हें दो–चार दिन पहने रहने को कहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाय तो वह भी इस सजा से छुटकारा पाने के लिए आपसे प्रार्थना करने लगेगा। कारण कि वे कपड़े इतने भारी भरकम व शरीर के लिए असुविधाजनक हैं कि आज का साधारण मानव भी उन्हें पहनना पसन्द नहीं कर सकता।

आज वस्त्रों में हर प्रकार के वस्त्र उपलब्ध हैं जिनकी वेरायटी एवं गुणवत्ता में प्राचीन समय के वस्त्रों से कथमपि तुलनीय नहीं है।

यातायात की सुविधा को लें तो पहेल सम्राट को एक सौ मील भी जाना होता तो कम से कम दो दिन लगते थे। घोड़े, हाथी, ऊँट पर बैठ कर जाना पड़ता था जिससे उसका वहाँ सुरक्षित पहुचँना ही बहुत बड़ी बात थी, परन्तु आज कोई भी आदमी ट्रेन एवं वायुयान में बैठ कर या सोता हुआ कुछ ही घंटों में बिना थके हजारों मील निश्चित सुरक्षापूर्वक ऐसे पहुँच जाता है जैसे घर में ही बैठा हुआ हो।

पहले किसी का कोई परिजन परदेश चला जाता तो हजारों रुपये खर्च करने एवं महीनों बीत जाने पर भी उसका संदेश प्राप्त करना शक्य नहीं था। आज विश्व के किसी देश के किसी कोने में बैठे व्यक्ति का संदेश- पत्र एवं बातचीत कुछ मिनटों में टेलीफोन, फैक्स, मोबाइल, इन्टरनेट के माध्यम से शक्य है। **सूचना एवं जनसम्पर्क** में अभूतपूर्व क्रान्ति हुई है।

तात्पर्य यह कि भौतिक विज्ञान ने आज एक साधारण व्यक्ति को भी सुख की इतनी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर दी है जितनी पुराने युग में अशोक, अकबर आदि महान् सम्राटों को भी उपलब्ध नहीं थी।

यदि सुख की साधन-सामग्री बढ़ने से व्यक्ति सुखी होता तो प्राचीन सम्राटों से आज के साधारण व्यक्ति के पास अधिक सुख सामग्री उपलब्ध होने के कारण अधिक सुखी होना चाहिए और आज के सम्पत्तिवान एवं सत्ताधारी तो इससे भी सैकड़ों गुना अधिक सुखी होने चाहिए परन्तु बात ठीक उल्टी है। आज बड़े से बड़े सम्पत्तिवान व सत्ताधारी को इतना अधिक दुःख व अशांति है कि उसे दुःख भुलाने के लिए शराब आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करना पड़ता है। इस अवांछनीय दुःखद स्थिति में उत्पत्ति के रहस्य को ढूढने के लिए पुराने सम्राटों और अब के व्यक्तियों के जीवन पर दृष्टिपात करें।

सम्राट अशोक और अकबर के पास धन संपत्ति का अभाव न होने पर भी आज जैसे पंखे, रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन, कार, वायुयान आदि सुख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साम्रगी के साधन पास नहीं थे, फिर भी उन्हें इनके प्राप्त नहीं होने का दुःख नहीं था, क्योंकि उनको इनकी कामनाएँ नहीं थीं। जबकि आज का साधारण व्यक्ति भी इनकी कामना करके इनकी प्राप्ति के लिए व्यथित हो जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि दुःख का कारण कामनायें हैं न कि वस्तुओं की कमी या अभाव। कामना के अभाव में चित्त शान्त रहता है और चित्त का शान्त या समता में रहना ही सुख है। इस तथ्य को समझने के लिए एक और उदाहरण पर विचार करें।

किसी छोटे से गाँव के बच्चे को उसकी माँ किसी नगर में ले जाती है। वह खिलौने की दुकान पर पहुँचता है और प्रथम बार बहुत से खिलौने देखता है। देखते ही उस खिलौनों को पाने की कामना उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होते ही कामना–पूर्ति के लिए चित्त में व्याकुलता व अशाति उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह बच्चा खिलौने न मिलने से दुःखी अनुभव करता है। जिस खिलौने के लिए अभी वह मचल रहा है, वह खिलौना उसके पास अपने गाँव में भी नहीं था, परन्तु वहाँ इस खिलौने के न होने से उसे कुछ भी दुःख नहीं था। दुःख यदि खिलौने के अभाव से होता तो पहले भी होना चाहिए था। इससे स्पष्ट है कि उस बच्चे को दुःख खिलौने के अभाव से नहीं, प्रत्युत खिलौना पाने की कामना–उत्पत्ति से हुआ है। अतः यह मानना होगा कि दुःख वस्तुओं के अभाव से नहीं, कामना उत्पत्ति में है। यह सबका अनुभव है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु को नहीं जानता है उसे उस वस्तु के नहीं होने से कोई दुःख नहीं होता है। दुःख तब होता है जब व्यक्ति उस वस्तु को देखने–सुनने आदि से जानता है और साथ ही यह मानता है कि इस वस्तु की प्राप्ति से सुख होता है। तब उसे वस्तु को पाने की कामना उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होने से चित्त अशान्त हो जाता है। चित्त की अशान्ति ही दुःख है। तात्पर्य यह है कि दुःख कि उत्पत्ति वस्तु के अभाव से नहीं होती है, अपितु वस्तु की प्राप्ति से दुःख होता है। इस मिथ्या मान्यता के कारण वस्तु के पाने की कामना उत्पन्न होने से ही दुःख होता है।

सुख कामना–पूर्ति में नही हैं, कामना के त्याग में है

जो व्यक्ति इस तत्थ से परिचित है कि ''सुख कामना पूर्ति में नहीं है कामना के त्याग में हैं'' वह कितनी ही नई–नई वस्तुओं को देखे, उनके विषय में जाने, उसके मन में उन वस्तुओं को पाने की यदि कामना नहीं होती है तो वह दुःखी नहीं होता। व्यक्ति इन्द्रियभोग की जिन–जिन वस्तुओं को देखता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या उनके विषय में जानता है, उसके मन में उन वस्तुओं को पाने की कामना उत्पन्न होती है और यदि कामनापूर्ति न हो तो दुःखी होता है।

अत: जितनी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उतना ही दुःख बढ़ता जाता है। यही कारण है कि संसार की समस्त संपत्ति भी किसी एक मनुष्य को दे दी जाय तब भी उसे अभाव का दुःख बना ही रहेगा, तृप्ति नहीं होगी। उस अतृप्ति को दूर कर, सुखी होने के लिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने चित्त में कामना उत्पन्न कर व्यर्थ में ही अपने को दुःखी न बनाये। हम अपने भोगोपभोग की वस्तुओं व इच्छाओं को सीमित रखने का दृढ़ संकल्प कर लें। जब तक हम भोगोपभोग की इच्छा का संयम न करेंगे व धन-धान्यादि वस्तुओं के संग्रह को किसी निश्चित सीमा में रखने का व्रत, प्रण नहीं लेगें, तब तक नवीन वस्तुओं की प्राप्ति की कामनाएँ उठ-उठ कर हमारे चित्त में अशांति पैदा करती ही रहेंगी और हम दुःखी होते ही रहेंगे।

भोगोपभोग की वस्तुओं एवं इच्छाओं का त्याग करें

अत: जिन वस्तुओं का भोग सभी कर रहे हैं उनको घटाएँ व त्यागें। यह सदा स्मरण रहे कि इन्द्रिय सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। दुनियां में कोई भी दुःख ऐसा नहीं है जो किसी न किसी इन्द्रियजन्य सुख के भोग का परिणाम न हो। इस प्राकृतिक-तथ्य का आदर कर हम जितना इन्द्रिय सुख के भोग का तथा कामनाओं व वासनाओं का त्याग करते जायेंगे उतना ही चित्त की व्याकुलता और दुःख से दूर रहेंगे। संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं। उनका प्रत्येक प्रयत्न सुख के लिये होता है। मानव भी एक प्राणी है और वह बचपन से ही सुख-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। वह सोचता है कि मेरी अमुक-अमुक कामनाएँ पूरी हो जायेंगी तो मैं सुखी हो जाऊँगा। यथा-एक गरीब व्यक्ति सोचता है कि मैं लखपति हो जाऊँ तो सुखी हो जाऊँगा और वह प्रयत्न करके लखपति बन भी जाता है, परन्तु देखा जाता है कि लखपति हो जाने पर भी वह सुखी नहीं हो पाता। इसी प्रकार लखपति सोचता है कि मैं करोड़पति हो जाऊँ तो सुखी हो जाऊँगा; परन्तु वह करोड़पति हो जाने पर भी सुखी नहीं होता। इसी प्रकार कार, बंगला आदि की कामना-पूर्ति को भी ले सकते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने ही बचपन के जीवन पर दृष्टि डाले तो देखेगा कि उस समय सुखी होने के लिये उसने जो कामनाएँ की थीं, उनमें से अधिकांश पूर्ण हो चुकी हैं; परन्तु उन कामना-पूर्तियों से सुख में कोई वृद्धि हुई हो, ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है। उससे पूछा जाय कि 'तुम बचपन में या आज से दस वर्ष पूर्व अधिक सुखी थे या आज? तो उत्तर मिलेगा कि मैं बचपन में या आज से दस वर्ष पूर्व ही अधिक सुखी था।

आशय यह कि प्रत्येक व्यक्ति की अनेक कामनाओं की पूर्ति होती है। एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसकी कोई भी कामना पूरी नहीं हुई हो; परन्तु उस कामना-पूर्ति से उसके सुख में वृद्धि हुई हो, ऐसा नहीं देखा जाता। इससे यह परिणाम निकलता है कि 'सुख कामना-पूर्ति में है', यह मान्यता मिथ्या है। सच्चाई यह है कि सुख कामना-पूर्ति में नहीं, प्रत्युत् कामना के परित्याग में है।

सुख कामनापूर्ति से नहीं : व्यक्ति की जब कामना पूर्ण हो जाती है, तब उसे सुखानुभूति होती है और वह समझता है कि उसका वह सुख कामना-पूर्ति होने से ही मिला है; जो कि भ्रान्ति है। कारण कि कामनापूर्ति-हेतु प्राप्त वस्तु अब भी उसी प्रकार उससे अलग है, जैसे पहले थी। अब केवल उस व्यक्ति में उस कामना की पूर्ति न होने का दुःख नहीं रहा अर्थात् कामना न रही, अतः सुख कामना न रहने से मिला। परन्तु कामना की पूर्ति कामना का अभाव युगपत् (एक साथ) होता है। इसलिये यह भ्रम हो जाता है कि सुख कामना-पूर्ति से मिला। यदि सुख कामना-पूर्ति के रूप में प्राप्त वस्तु से मिलता तो वह सुख उस वस्तु के रहते बराबर मिलना चाहिये; परन्तु यह सर्वविदित है कि कामनापूर्तिजनित सुख प्रतिक्षण क्षीण होता है और एक स्थिति ऐसी आती है कि उस वस्तु से जनित सुख सूख जाता है तथा जीवन में नीरसता आ जाती है। नीरसता से मानव ऊबता है और सुख-प्राप्ति के लिये फिर नयी कामना पैदा करता है। इस नयी कामना का भी यही परिणाम होता है, जो पूर्ण कामना का हुआ था, अर्थात् यह नयी कामना पूरी होती है और उससे प्राप्त सुख सूखकर नीरसता को प्राप्त हो जाता है। फिर नीरसता नयी कामना को जन्म देती है। इस प्रकार कामना-उत्पत्ति-पूर्ति का चक्र चलता रहता है। यह चक्र आनादि काल से चला आ रहा है। इस चक्र का कारण है- कामना-पूर्ति से प्राप्त वस्तु में सुख मानना।

उपर्युक्त तथ्य को हम एक उदाहरण से समझें—

कल्पना करें कि एक व्यक्ति 'क' अध्यापक है। वह बड़ी शान्ति से बैठा है। इसी समय उसका सहपाठी पुराना मित्र 'ख' कार में बैठकर आता है और बातचीत के सिलसिले में बताता है कि वह किस प्रकार अपने व्यवसाय में सफल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने से करोड़पति बन गया है। यह सुनकर 'क' के मन में विचार आता है कि मुझसे कम योग्यतावाला यह व्यक्ति सेठ बन गया है, कार में ठाट से घूमता है। मैं कैसा अभागा हूँ कि इससे अधिक योग्यतावाला होता हुआ भी दरिद्र हूँ; आने-जाने के लिये मेरे पास कार की तो बात दूर रही, स्कूटर भी नहीं है। उसके मन में विचार आता है कि मुझमें मेरे मित्र 'ख' से अधिक योग्यता है। मैं भी धन कमाऊँगा, कार लाऊँगा। फिर तो उसमें कार-प्राप्ति की कामना उत्पन्न होते ही उसका मन आशान्त हो गया। चित्त विक्षुब्ध हो गया। अब उसे कार का अभाव खटकने लगा। जो 'क' कार की कामना उत्पन्न होने से पहले शान्त तथा सुखी बैठा था, अब वह कार की कामना की उत्पत्ति से दुःखी हो गया। फिर उसने अथक परिश्रम किया। अनेक कष्ट सहन किये और धन कमाया। उसने कार-प्राप्ति के लिये नम्बर लगाया। कम्पनी ने सूचना दी कि आप चार-पाँच दिनों में पैसे जमा कराकर कार ले जांय। इस सूचना से उसका हृदय प्रफुल्लित हुआ, उसे सुख हुआ। विचारणीय बात तो यह है कि 'क' ने अभी तक प्राप्त होने वाली कार देखी तक नहीं है और न किसी कार पर उसका स्वामित्व हुआ है, अभी तो कार कम्पनी के गैरेज में जहाँ-तहाँ पड़ी है, फिर भी उसे सुख हो गया। यदि कार-प्राप्ति में सुख होता तो कार की प्राप्ति होने पर ही सुख होना चाहिये था, पहले नहीं।

चार दिन बाद पैसे जमा करके वह कार ले आया तो ड्राइवर से कहा कि शहर में धीरे-धीरे कार चलाना। कार में बैठकर कपड़े के मित्र की दुकान के सामने पहुँचते ही कार रुकवायी और कपड़े खरीदने के बहाने अंदर गया। मित्र ने कार देखकर प्रशंसा की तो 'क' फूला नहीं समाया । इसी प्रकार अपने अन्य मित्रों के यहाँ भी किसी-न-किसी बहाने पहुँचा और उनके मुख से प्रशंसा सुनकर फूला न समाया। उसके हर्ष गर्व का पारावार न रहा। परन्तु दूसरे दिन फिर कार में बैठकर बाजार में गया तो कल-जितना सुख आज न रहा। यहाँ तक कि दस-पंद्रह दिनों में तो वह सुख घटकर उसकी सामान्य स्थिति में आ गय'। केवल उतना ही सुख रह गया, जितना कभी साइकिल के आने पर हुआ था।

विचारना यह है कि कार वही है और कार का स्वामी भी वही है, फिर सुख सामान्य कैसे हो गया? क्यों अब उसके हृदय में गुदगुदी नहीं होती? इससे यह परिणाम निकलता है कि सुख कार की प्राप्ति में भी नहीं है। यदि कार की प्राप्ति में होता तो वह अब भी होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'क' अपने कार्यालय में बैठा है और कार किसी मेहमान को लेने स्टेशन गयी है और वहाँ कार में किसी प्रकार आग लग जाती है और कार जल जाती है, कार न रही; परंतु 'क' को अबतक कोई सूचना नहीं मिली, अतः उसे कोई दुःख नहीं हुआ। यदि कार के न होने से 'क' को दुःख होता तो कार के जलते ही दुःख होना चाहिये था। इससे यह परिणाम निकलता है कि कार के न होने से 'क' के दुःख का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अतः कामना की पूर्ति से प्राप्त सम्बन्धित वस्तु या पदार्थ के साथ सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुख का सम्बन्ध मन में रहे हुए राग–द्वेषमयी मान्यता से है और कामनापूर्ति से होने वाला सुख कामना के अभाव से हुआ है। उसकी उस समय वही स्थिति हो गयी, जो कामना–उत्पत्ति से पूर्व थी अर्थात् कामना का अभाव हो गया। कामना के अभाव होने से चित्त शान्त हो गया। चित्त की शान्ति से सुख मिला।

तात्पर्य यह है कि सुख कामनापूर्ति में नहीं है– कामना के परित्याग या अभाव में है जो दुःख का मूल है-

कामना— दुःख का मूल है। कामनापूर्ति में सुख तो है ही नहीं, साथ ही कामनापूर्ति तथा इन्द्रियजन्य सुख ही संसार के समस्त दुःखों और बुराइयों को उत्पन्न करनेवाला भी है। यथा–

(१) सुख–क्षीणता, (२) शक्ति–क्षीणता, (३) अभाव, (४) जड़ता (मूर्च्छा), (५) आकुलता, (६) पराधीनता, (७) नश्वरता, ९८) नीरसता, (९) अतृप्ति, (१०) रोगोत्पत्ति, (११) वियोग–का दुःख आदि उत्पन्न करता है।

सुखक्षीणता— इन्द्रिय–सुख प्रतिक्षण क्षीण होता है। ऊपर के उदाहरण में ही कार के मिलने का जो सुख तत्काल मिला, वह सुख एक घंटे पीछे न रहा। दूसरे दिन पहले दिन–जितना न रहा और अन्त में वह कार उस के नित्य–प्रति के उपयोगी सामान्य वस्तुमात्र की तरह रह गयी और कार से मिलनेवाला सुख सूख गया। इस प्रकार कार का सुख क्षण–प्रतिक्षण घटता ही गया।

दूसरा उदाहरण लें। एक गरीब व्यक्ति तीन दिन–का भूखा है, उसे किसी ने निमन्त्रण दिया और बादाम का हलवा परोसा। उसने जिंदगी में कभी हलवा ही नहीं खाया था। अतः उसे बादाम का हलवा बड़ा स्वादिष्ट लगा, बड़ा सुख हुआ। परंतु ज्यों–ज्यों वह ग्रास लेता गया त्यों–त्यों सुख में कमी होती गयी और एक ऐसी स्थिति आ गयी कि कोई उसे हलवा परोसना चाहता है तो वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'ना' करता है। फिर भी उसे यदि जबरदस्ती हलवा खिलाना चाहता है तो उसे बुरा लगता है, दु:ख होता है। खानेवाला व्यक्ति वही है और हलवा भी वही है, फिर भी धीरे-धीरे सुख समाप्त हो गया।

यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'उसका पेट भर गया, इसलिये उसका सुख मिट गया है,' या ऐसा सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है?इस प्रश्न के समाधान के लिये हम श्रोत्रेन्द्रिय के विषय सुख, संगीत या राग-रागिनियों को लें। किसी गायिका की मधुर ध्वनि का एक रेकार्ड भरा हुआ है, उसे सुनते ही चित्त प्रफुल्लित हो गया। फिर दुबारा वही रेकार्ड सुनाया गया तो उतना सुख न हुआ, इसी प्रकार तीन बार, चार बार, पाँच बार, छः बार सुनाते-सुनाते यदि पचास बार सुनाया जाय तो अपनी प्रिय गायिका के कण्ठ की वही मधुर ध्वनि सुनने में नीरस लगने लगेगी। यद्यपि उस ध्वनि के बार-बार सुनने से कान भर नहीं गये हैं, उसने कान में जगह नहीं रोकी है। फिर भी वही ध्वनि और वही सुननेवाला होनेपर भी कान में वजन न बढ़ने तथा स्थान न घेरने पर भी सुख का समाप्त हो जाना इस बात का द्योतक है कि इन्द्रिय-सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है।

इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के विषय को लें-एक व्यक्ति विदेश से हजारों रुपये किराये में व्यय करके ताजमहल देखने आया। वह ताजमहल की पत्थर की पच्चीकारी को देखकर दंग रह गया। अपने को बड़ा सुखी अनुभव किया; परन्तु धीरे-धीरे ताजमहल के सौन्दर्य का वह सुख धीमा पड़ गया, घटता गया। छः-सात घंटे पश्चात् ताजमहल को देखते-देखते वह ऊब जायेगा और उसे वहाँ ठहरना या ताजमहल को देखना पसंद न आयेगा।

ताजमहल वही, देखनेवाला भी वही, व्यक्ति और ताजमहल देखने से न उसकी आँखों में स्थान भरा, न आँखें देखने से थकीं; क्योंकि आँखें तो अभी भी दूसरी वस्तुयें देख ही रही हैं, फिर भी उसका देखने का सुख समाप्त हो गया। यही तथ्य घ्राणेन्द्रिय के विषय-सुख गन्ध, स्पर्शेन्द्रिय के विषय-सुख कोमलता, मृदुता, शीतलता, उष्णता आदि पर भी घटित होता है, अर्थात् विषय-सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है।

शक्तिक्षीणता- इन्द्रिय-सुख में इन्द्रिय और मन-वचन-काया की प्रवृत्ति कार्य करती है। यह नियम है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में शक्ति का उपयोग होता है, इससे शक्ति क्षीण होती है। यही कारण है कि विषय-सुख को भोगते-भोगते इन्द्रिय, मन आदि भी थक जाते हैं।

अभाव- ऐसा कभी नहीं होता कि किसी की सभी कामनाएँ पूरी हो जायँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो कामनाएँ पूरी नहीं होतीं, उससे सम्बन्धित वस्तु के अभाव का दुःख सदा बना ही रहता है अर्थात् कामना के अपूर्तिजनित अभाव का दुःख संसार-अवस्था में सदा रहता ही है।

जड़ता (मूर्च्छा)– कोई भी कामना मोह-मूर्च्छा-ग्रस्त हुए बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। उस मोह या मूर्च्छा से व्यक्ति अपना भान भूल जाता है। अपने चिन्मय-स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। कामना की जितनी तीव्रता होती है, उतनी ही गहरी विस्मृति होती है। अपना भान भूलना या स्वरूप-विस्मृति, मूर्च्छाभाव या जड़ता का ही द्योतक है। यह जड़ता ही विषय-भोग में सुखानुभूति कराती है– जैसे शराबी को शराब से बेहोशी की अवस्था में सुखानुभूति होती है।

आकुलता– कोई भी व्यक्ति-उसकी कोई इन्द्रिय जबतक विषयप्रवण नहीं होती, तबतक वह इन्द्रिय का सुख नहीं भोग सकता। इन्द्रिय की विषयोन्मुखता शान्ति को भंग कर चित्त को अशान्त एवं व्याकुल बनाती है। परंतु जड़ता या मोह-मूर्च्छा के कारण प्राणी उस आकुलता-व्याकुलता का अनुभव नहीं करता और सुख का अनुभव करता है।

पराधीनता– 'क' को कार मिली, उससे वह उसमें बैठने का आदी (व्यसनी) हो गया। अब उसे साइकिल पर बैठकर या पैदल जाने को कहा जाय तो उसे बड़ा अटपटा लगेगा, दुःख होगा। अब वह जाने के लिये कार के अधीन हो गया। कार इधर-उधर गयी तो उसका घर के बाहर जाना कठिन हो गया। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय-जन्य सुख व्यक्ति को वस्तु के अधीन अर्थात् पराधीन बनाता है।

नश्वरता– जिन पदार्थों से विषय-सुख मिलता है, वे सभी नश्वर हैं। जब पदार्थ ही नाशवान हैं तो यह भी स्वाभाविक ही है कि उससे मिलनेवाला सुख भी क्षणिक ही होगा।

नीरसता– हम ऊपर कार के द्वारा क्षणिक सुख के उदाहरण में तथा भोजन, संगीत, दृश्य-ताजमहल आदि के उदाहरणों में देख चुके हैं कि इन्द्रियजनित सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है और उस सुख का अन्त नीरसता में होता है। मन उससे ऊब जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियजनित सभी सुख मन को उबाने वाले हैं। यहाँ तक कि नव-दम्पति, जिनका आज ही विवाह हुआ है और वे वर-वधू जो परस्पर अत्यन्त स्नेह रखते हैं, उनका भी परस्पर मिलने आदि से मिलने वाला सुख कुछ ही घंटो में सूख जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतृप्ति– कामनापूर्ति या विषय–सुख को जितना भोगा जाता है, व्यक्ति उसका आदी हो जाता है। फिर पाने के लिये नयी कामना की उत्पत्ति होती है। परन्तु भोग से तृप्ति हो जाय और फिर नयी कामना की उत्पत्ति न हो, ऐसा सम्भव नहीं है।

रोगोत्पत्ति– विषय–सुख में आसक्त व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के साथ अतिरेक करता है, जैसे स्वाद के सुख में आसक्त व्यक्ति भूख से अधिक खाता है, पेट ठूँस–ठूँस–कर भरता है, वह न खाने योग्य वस्तु खाता है। सिनेमा देखने के सुख में आसक्त व्यक्ति अपनी नींद और आँखे खराब होने की परवाह नहीं करता है इस प्रकार इन्द्रिय-सुख में आसक्त व्यक्ति अकरणीय–शास्त्रनिन्द्य कार्य करता है। प्रकृति इसे सहन नहीं कर पाती और प्राकृतिक नियमानुसार रोगोत्पत्ति के रूप में उसे दण्ड मिलता है; अर्थात् दण्ड के रूप में रोगोत्पत्ति का दुःख मिलता है।

वियोग का दुःख– प्राकृतिक नियमानुसार जिसका संयोग होता है, उसका वियोग अवश्यम्भावी है। कारण, वस्तु परिवर्तनशील है, अतः या तो वह वस्तु नष्ट हो जायेगी अथवा उसके स्वामी, साथी या भोक्ता की मृत्यु के कारण एवं अन्य किसी के कारण से उसे अलग होना पड़ेगा। यह नियम है कि प्राणी जिस वस्तु के संयोग में जितना अधिक सुख मानता है, उसे उसके वियोग में उतना ही अधिक दुःख होता है। इस प्रकार संयोगजनित विषय–सुख का अन्त वियोगजनित दुःख में ही होने वाला है।

सारांश यह है कि दुनियां का कोई भी दुःख ऐसा नहीं, जिसकी जड़ में विषय–सुख न हो। यह प्राकृतिक नियम है कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। तथ्य तो यह है कि विषय–सुख कामना–उत्पत्ति–पूर्ति तथा फल– ये सब दुःखमय और दुःखजनक हैं।

इसी सुख के कारण राग–द्वेष–मोह उत्पन्न होते हैं, जिनसे जन्म–मरणरूप भवचक्र चलता है और जिसके फलस्वरूप प्राणी अनन्तकाल से दुःखी हो रहा है। अतः कामनात्याग में ही बुद्धिमानी है।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन आगमों में शिल्प : एक दार्शनिक दृष्टि

डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय*

जैन आगम प्रमुख रूप से धर्म और दर्शन से सम्बन्धित है। उसमें जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आजीविका के साधनों का उल्लेख पर्याप्त रूप में प्राप्त होता है। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश होते हुए भी कुटीर उद्योग में विकसित था। यहाँ के शिल्पी अपने कर्म में कुशल थे जिसकी चर्चा जैन आगमों में विस्तार से की गयी है। 'दशवैकालिकचूर्णि' में कुटीर उद्योगों से अर्थोपार्जन करने का उल्लेख मिलता है।[१]

जैन आगम साहित्य से तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। प्राचीन काल में पुत्र अपने पिता के व्यवसाय में दक्षता प्राप्त करता था। अधिकतर शिल्प वंश परम्परागत थे। शिल्पी को व्यावसायिक कुशलता उत्तराधिकार में ही प्राप्त होती थी। प्राय: पिता ही शिक्षक होता था और उसकी कार्यशाला शैक्षणिक प्रतिष्ठान होती थी।[२] वंशानुगत प्रवृत्ति के साथ शिल्प के स्थानीकरण की भावना भी पाई जाती थी।

शिल्पियों ने अपनी निजी कार्यशालाएँ बना रखी थीं और वे अपने-अपने व्यवसाय के संरक्षण एवं संवर्धन के प्रति सचेष्ट रहते थे। एक शिल्प विद्यालय का भी उल्लेख मिलता है जो कपिलवस्तु के आम्रोद्यान में स्थित था। उसमें विविध शिल्पों की शिक्षा प्रदान को जाती थी।[३] जम्बूद्वीप में शिल्पियों के १८ श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। 'वर्द्धकिरत्न' नाम का एक कुशल शिल्पी का भी वर्णन मिलता है जो राजा भरत के काल का सर्वगुण सम्पन्न शिल्पकार था।[४]

शिल्पशालाओं के लिए पर्याप्त मात्रा में स्थान उपलब्ध थे। नगरों और गाँवों के बाहर उपलब्ध भूमि में शिल्पशालाएँ बनाई जाती थीं और शिल्पी अपना कार्य करते थे।[५] शिल्पशालाओं में कुम्भारशाला, लोहारशाला, पण्यशाला आदि नाम प्राप्त होते हैं।[६] लोहारों की शिल्पशाला 'कर्मारशाला', 'समर' और 'आयस', कही

* *पूर्व शोध-छात्र, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती थी। इसी प्रकार तन्तुवाय की शिल्पशाला को 'नन्तकशाला' और स्वर्णकार की शिल्पशाला को 'कलाशाला' नाम दिया गया था।[७] नगर को स्वच्छ रखने के लिए शिल्पशालाओं का निर्माण प्रायः गाँव और नगरों के बाहर ही हुआ करता था।[८] 'कल्पसूत्र' से ज्ञात होता है कि व्यापार की सुविधा के लिए तिराहे, चौराहे, सड़क और बाजार बने हुए थे। व्यापारियों के कारवाँ का उल्लेख भी इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है।[९]

वस्त्र शिल्प - वस्त्रों पर किए गए चित्रांकन आगम युगीन वस्त्र को अति-विकसित अवस्था की ओर इंगित करते हैं। वस्त्र हल्के, सुन्दर, सुकोमल और पारदर्शी बनाए जाते थे।[१०] राजसी वस्त्र बहुमूल्य नगों से अलंकृत होते थे। जिनकी बनावट कई प्रकार की थी और उन पर हजारों नमूने कढ़ाई किए जाते थे।[११] बहुमूल्य वस्त्र मुलायम तथा कसीदा किए हुए होते थे तथा इन पर पशु, पक्षी, यक्ष, किन्नर, पेड़-पौधे आदि का चित्रण रहता था।

लोकप्रिय वस्त्रों में ऊनी, रेशमी, पटुआ, ताड़ के पत्रों से बने सूती वस्त्र तथा अर्कतुल के रेशे से बने वस्त्रों के नाम सर्वोपरि हैं। फर के उत्कृष्ट वस्त्र, बकरी के बालों से बने वस्त्र, नीले सूत से बने वस्त्र, साधारण सूत के बने तांत पट्ट, मलय वस्त्र, कलकल, मलमल, रेशम, देशराग, आमिल, जग्गल, फालिम आदि वस्त्रों की कई किस्में थीं। जूट के रेशों से रस्सी बुनी जाती थी।[१२]

सूती वस्त्र - आगम युग में वस्त्र निर्माण के लिए कपास का उपयोग सर्वाधिक होता था। बृहत्कल्पभाष्य में सूती कपड़ा बनाने की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'सेडुग' (कपास) को पहले बीजरहित किया जाता था, तत्पश्चात् उसकी धुनाई की जाती थी और स्वच्छ रूई तैयार की जाती थी।[१३] इसके बाद सूत को फैलाकर ताना बना दिया जाता था, फिर 'कंडजोली' उपकरण से तन्तुवायशाला में वस्त्र तैयार किया जाता था।[१४] बृहत्कल्पभाष्य में स्त्रियों के भी सूत कातने का उल्लेख मिलता है।[१५] जातक कथा से भी इस बात की पुष्टि होती है।[१६]

रेशमी वस्त्र - अपनी निर्माण-विधि की भिन्नता के कारण रेशमी वस्त्रों के कई प्रकारों का वर्णन आगमों में मिलता है। 'आचारांगसूत्र' में रेशमी वस्त्रों को 'भंगिय' कहा गया है।[१७] 'अनुयोगद्वारसूत्र' में अंडों से निर्मित रेशमी वस्त्रों को 'अंडज' और कीड़ों की लार से बने वस्त्रों को 'कीड़ज' कहा गया है।[१८] 'आचारांग' में पांच प्रकार के रेशमी वस्त्रों का वर्णन आया है। 'निशीथचूर्णि' में भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[१९]

ऊनी वस्त्र - पशुओं के बालों एवं रोमों से बने वस्त्रों का भी वर्णन मिलता है। 'आचारांग' में पशुओं के बालों से निर्मित ऊनी वस्त्रों को 'जंगिय' कहा गया है। 'निशीथचूर्णि' में पाँच प्रकार के ऊनी वस्त्रों का उल्लेख मिलता है - मेसाणि (भेड़ के बालों से निर्मित ऊनी वस्त्र), उटणि (ऊँट के बालों से निर्मित ऊनी वस्त्र), मिगाईणाणि (मृग के बालों से निर्मित ऊनी वस्त्र), पेसाणि (चूहे, खरगोश जैसे जीव के बालों से निर्मित ऊनी वस्त्र) एवं पेसलाणि (विदेशी पशुओं के बालों से निर्मित ऊनी वस्त्र)।[२०]

धातु शिल्प - खानों और उनसे निकलने वाले खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में प्राप्त सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि आगम काल में खनन-क्रिया विस्तृत रूप से की जाती थी।[२१] खान खोदने वाले श्रमिक 'क्षितिखनक' कहे जाते थे।[२२] सोना-चाँदी, काँसा आगम-कालीन प्रसिद्ध धातुएँ थीं।[२३] सोना-चाँदी जेवर बनाने के काम आता था, जबकि कांसा बर्तन बनाने के लिए उपयोग में लाया जाता था[२४] ताम्बा, लोहा, रांगा, टिन और सीसा जैसी धातुएँ आगमकाल में सुविख्यात थीं।[२५]

लुहारों द्वारा जनसाधारण हेतु दैनिक काम में आने वाले उपकरणों के साथ ही युद्ध में प्रयुक्त होने वाले विविध अस्त्रों का निर्माण किया जाता था। लुहारों द्वारा कुल्हाड़ी, फावड़ा[२६], कैंची, सूई, छुरी[२७] आदि के निर्माण के साथ-साथ मुद्‌गर, त्रिशूल, गदा, भाला, तोमर, बर्छी, तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र भी बनाए जाते थे।[२८] आभूषण का प्रयोग भी व्यापक तौर पर होता था। जैन सूत्रों से ज्ञात होता है कि स्त्री एवं पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। हार, कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली, बाजूबन्द, अंगूठी, कुण्डल आदि विभिन्न आभूषणों का उल्लेख आगम ग्रन्थों से प्राप्त होता है।[२९] अन्य आभूषणों में कुण्डल, मुकुट, चूड़ामणि, करधनी, मुक्ताहार, कर्णफूल आदि का भी उल्लेख बहुतायत रूप से प्राप्त होता है। आगम ग्रन्थों में बहुमूल्य रत्न एवं मणियों का भी उल्लेख मिलता है। हीरा, मूँगा, पन्ना, नीलम, स्फटिक, चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि बहुमूल्य रत्न थे जिनका उपयोग सोना-चाँदी आदि धातुओं के साथ किया जाता था।[३०] 'कल्पसूत्र' में भी मूंगा, माणिक्य, शंख, कौड़ी आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[३१]

भाण्ड शिल्प - आगमिक युग में मिट्टी के पात्रों का सर्वाधिक उपयोग होता था। पुरातात्त्विक उत्खननों से अनेक मिट्टी के पात्रों की प्राप्ति के उद्धरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिलते हैं। 'मृद्भाण्ड' बनाने वाले कुम्भार और धातु के बर्तन बनाने वाले 'लोलालिक' कहे जाते थे।[३२] कुम्भारों द्वारा पानी संग्रह हेतु घड़े, मिट्टी के परात, मटके, सुराही तथा अनाज संग्रह हेतु मिट्टी के पात्रों का निर्माण किया जाता था।[३३] मृद्भाण्डों के अतिरिक्त तुम्बा, काठ, लोहा, रांगा, ताम्बा, जस्ता आदि के भी पात्रों का निर्माण किया जाता था।[३४]

काष्ठ शिल्प - 'आचारांगसूत्र' में काष्ठ कर्मशाला, मानगृह, रथादि बनाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[३५] 'समवायांग' में चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में बर्धकी (बढ़ई) रत्न भी सम्मिलित था। वह राज्य के लिए वाहन तथा भवन आदि का निर्माण करता था। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में काष्ठ शिल्प उन्नतशील था। अनेक जीवनोपयोगी घरेलू उपकरण जैसे - उखल, मूसल, पीढ़ा, रथ, पालकी, कृषि में काम आने वाले हल, जुआ, पाटा आदि काष्ठ से ही निर्मित होते थे। इसके साथ ही दरवाजे, सीढ़ियां, गवाक्ष आदि भी लकड़ी से ही निर्मित होते थे।

वास्तु शिल्प - आगम काल में वास्तु शिल्प भी अपनी विकासावस्था में था। नगरों की संरचना, चौड़े पथ एवं भवनों के निर्माण की शैली उत्कृष्ट थी। नगरों को बड़े सड़कों से जोड़ने के लिए छोटी-छोटी सड़कें बनी हुई थीं। जैन साहित्य में 'सिंघाडग', 'तिग' 'चउक्क' एवं 'चत्वर' आदि का वर्णन आया है।[३६] तिराहे और तिनमुहानी को 'सिंघाडग' तथा चतुष्पथ और चौमुहानी को 'चउक्क' कहा जाता था। आगमों में अनेक वास्तु विशेषज्ञों का उल्लेख मिलता है जो राजमहल, भवन, तृण कुटीर, साधारण गृह आदि बनाते थे।[३७] वास्तु उद्योग इतना उन्नत था कि शीतगृहों का भी निर्माण होता था, इसका उल्लेख बृहत्कल्पभाष्य में मिलता है।[३८]

चर्मशिल्प - आगमों में उपलब्ध विवरण से यह ज्ञात होता है कि उस समय पशुओं के चमड़े, दाँत, बाल, सींग, खुर आदि से वस्तुओं का निर्माण होता था। चर्मकार पशुओं की खालों को मुलायम करके उससे अनेक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करते थे। 'निशीथचूर्णि' में विभिन्न प्रकार के जूतों का उल्लेख आया है।[३९] कुणिक राजा के जूते कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित थे, जिनमें वैदर्भ, रिस्ट एवं अंजन रत्न जड़ित थे।[४०] युद्ध क्षेत्र के लिए भी चमड़े के अनेक आवरण बनाए जाते थे। चर्मवस्त्र का उल्लेख आगमों में मिलता है। बृहत्कल्पभाष्य में यह उल्लेख है कि रुग्णावस्था में या विशेष परिस्थिति में जैन साधु-साध्वियाँ भी चर्म शिल्प का उपयोग कर सकते हैं।[४१] परन्तु चर्मशिल्पकारों को जीवों की हिंसा कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिल्प बनाने का निर्देश नहीं था। मृत पशु का ही प्रयोग चर्मशिल्प उद्योग में होता था।

चित्रांकन शिल्प - आगमों में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। चित्रकार भी एक प्रकार के शिल्पी ही होते हैं। वे अपनी चित्रकारी का प्रदर्शन भवनों, वस्त्रों, रथों और बर्तनों आदि पर प्राचीनकाल में करते थे और आज भी करते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लेखित धारणी देवी के 'शयनागार' की छत लताओं, पुष्पावलियों तथा उत्तम चित्रों से अलंकृत थीं।[४२] बृहत्कल्पभाष्य से भी ज्ञात होता है कि एक विदुषी गणिका ने अपनी चित्रसभा में विविध उद्योगों से सम्बन्धित चित्र बनवा रखे थे। जब कोई आगन्तुक चित्र विशेष की ओर आकर्षित होता तो वह उसकी वृत्ति और रुचि का अनुमान लगा लेती थी।

कुटीर उद्योग शिल्प - कुटीर उद्योग शिल्प के भी अनेक दृष्टांत जैनागमों में प्राप्त होते हैं। डोम, कुहण, तुरहा, बीन आदि जातियां सूप, टोकरियाँ, रस्से आदि का निर्माण करते थे। जंगली जानवरों को पकड़ने के लिए मूंज, काष्ठ, वेत्र, सूत्र आदि से रस्से बनाए जाते थे।[४३] थाली, बटलोई, सरकण्डों के सूप, बाँस की छबड़ी आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[४४] ऊन, मूंज, घास, ऊँट के बाल, सन आदि से साधुओं के लिए रजोहरण बनाए जाते थे। ताड़, मूंज और पलास के पत्रों से हाथ के पंखे बनाए जाते थे। इनके अतिरिक्त विविध खिलौनों का भी निर्माण किया जाता था।

शिल्प की दार्शनिक व्याख्या पर दृष्टि डालें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य एक जिज्ञासु प्राणी है। वह प्रत्येक वस्तु के प्रति नवीन दृष्टिकोण रखता है। शिल्पकार के लिए उसके द्वारा निर्मित शिल्प उसकी अन्तरात्मा से फूटकर निकलती परिकल्पना का साकार रूप है। शिल्पकार अपनी शिल्प को साकार रूप देकर अत्यन्त प्रसन्न होता है। दूसरे शब्दों में, शिल्प शिल्पकार का खेल है, मनोरंजन है जिसको साकार रूप देकर वह आनन्दित होता है। नई-नई शिल्पों को तैयार करना शिल्पकार का शौक कहा जा सकता है। वह एक अच्छा शिल्प तैयार कर अतिशय आनन्द को प्राप्त करता है। शिल्पकार के लिए शिल्प का निर्माण ही उसका साध्य है।

आस्तिक दर्शन ईश्वर को शिल्पकार मानता है (सांख्य और मीमांसा को छोड़कर) यह विश्व एक शिल्प है और ईश्वर उसका शिल्पकार है किन्तु ईश्वर का यह शिल्प उद्देश्य रहित है। वह विश्व रूपी शिल्प का निर्माण किसी अन्य की अपेक्षा से नहीं करता। वह तो पूर्ण है, आप्तकाम है, सभी प्रकार की कामनाओं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इच्छाओं से रहित है, निरपेक्ष है। वह तो जगत् रूपी शिल्प को निर्मित कर उसे देखता है और आनन्दित होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत अपेक्षित होगा - जिस प्रकार छोटे बच्चे मिट्टी या बालु के टीले पर अपनी पसन्द के शिल्प निर्मित करते हैं और उससे आनन्दित होते हैं उसी प्रकार शिल्पकार भी अपनी शिल्पों को निर्मित कर आनन्दित होता है।

सन्दर्भ :

१. सिप्पेण अत्थो उवज्जिणिज्जई, **दशवैकालिकसूत्र**, पृ० १०२, जिनदास-गणिकृत, श्वेताम्बर संस्था, जामनगर।
२. डॉ० कमल जैन, **प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन**, पृ० ७५, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९८८.
३. सत्यकेतु विद्यालंकार, **भारत का प्राचीन इतिहास**, पृ० ३३३.
४. **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र**, सम्पा० मधुकर मुनि, पृ० १०७-११०.
५. 'जत्थ कम्मविज्जंति सा कम्मंतसाला' **निशीथचूर्णि** भाग - २, पृ० ४३३.
६. **उत्तराध्ययनसूत्र** १९-६६, ६७.
७. **बृहत्कल्पभाष्य**, भाग ३, गाथा २९२९.
८. 'सद्धालपुत्तस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंचकुम्भकारावणसया' उपासकदशांग, ७-८.
९. **कल्पसूत्र**, पृ० १५.
१०. नास तीसासवायवोज्जं चक्खुहरं कणकरिसजुत्तं ह्यलालपेलवातिरेगं धवलं कणगखचियंत कम्मं दुगूलसुकुमाल्वउत्तरिज्याओ। भगवतीसूत्र ९-३३-५७.
११. **कल्पसूत्र**, १-४-६३.
१२. **उत्तराध्ययनसूत्र** १९-५६.
१३. 'सेडुय सए पिंजिय येलु गाहाणे य' **बृहत्कल्पभाष्य** भाग ३, गाथा - २९९६.
१४. कडजोगी एक्कओ वा, असईए नालबद्धसहिओ वा निप्फाए उवगरणं, उभओपक्खस्स पाओग्गं। **बृहत्कल्पभाष्य** भाग ३ गाथा २९९७.
१५. **बृहत्कल्पभाष्य**, भाग १, गाथा १७१.
१६. महोवसन्तर जातक, आनन्द कौसल्यायन, **जातक कथा** ६/५४२.
१७. **आचारांगसूत्र** २/५/१/१४५.
१८. **अनुयोगद्वारसूत्र** २८/३८.
१९. 'किरीउयलाला मलयविसए मलयाणि पत्ताणि कोविज्जति', **निशीथचूर्णि**, भाग २, पृ० ३९९.
२०. **निशीथचूर्णि**, भाग २, गाथा ६४५.
२१. **उत्तराध्ययनसूत्र** ३६/७३-७६.
२२. **निशीथचूर्णि**, भाग-३, गाथा - ३७२०.
२३. **सूत्रकृतांगसूत्र** २-८-८०.
२४. **उत्तराध्ययनसूत्र**, ९/४६-४८.
२५. **वही**, १९/६८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२६. **वही**, १९/६६, पृ० १९५.
२७. **आचारांगसूत्र** २/७/६११, पृ० २८२.
२८. **उत्तराध्ययनसूत्र**, १९/१९२-१९४.
२९. डॉ० रेखा चतुर्वेदी, **जैन आगम इतिहास एवं संस्कृति**, पृ० २९३.
३०. **वही**, पृ० २९४.
३१. **कल्पसूत्र**, पृ० २४९, २९०.
३२. **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति** ३/१०.
३३. **उपासकदशांगसूत्र**, अध्ययन ७.
३४. **औपपातिकसूत्र**, सू० ७९, पृ० १३२.
३५. **आचारांगसूत्र** २/२/४३५, पृ० १३६.
३६. **औपपातिकसूत्र** - १.
३७. **प्रश्नव्याकरणसूत्र**, १-१४.
३८. **बृहत्कल्पभाष्य**, भाग - ३, गाथा २७१६.
३९. 'एवापुड - सगल - कसिणं दुपडादीयं पमाणओकासिणां। कोसग - खेल्लग वग्गुरी, खपुसा जंघ एद्धजंघा या।' **निशीथचूर्णि** भाग - २, गाथा - ९१४.
४०. वारिट्ट - रिट्ठ - अंजण - निउणोविय - मिसिमिसंत गणि रयण मंडियाओं पाडयाओ ओमपई। **औपपातिकसूत्र**, पृ० ११४.
४१. उवहाण तूलि आलिंगाणी उ गंडोवहाण च मसूरा।
गो माहिस अय-एलग-रण्णमियाणं च चम्मं तु।। **बृहत्कल्पभाष्य** भाग-४, गाथा ३८२४.
४२. **ज्ञाताधर्मकथांग** १-८.
४३. **प्रश्नव्याकरणसूत्र** १-१-२०.
४४. **आचारांगसूत्र**, २/१/४०९, पृ० १०८.

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

तीर्थंकरों की मूर्तियों पर उकेरित चिह्न

डॉ० उमाकान्त पी. शाह*
अनुवादक – प्रोफेसर लक्ष्मी चन्द जैन

विभिन्न तिर्थंकरों की मूर्तियाँ उनकी पादपीठ के नीचे उकेरित किये गये लांछन (cognizance) या चिह्न की सहायता से पहचानी जाती हैं। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदायों द्वारा ऐसे लाक्षणिक प्रतीकों की सूची दी गयी है। किन्तु, किसी भी पूर्व-ग्रंथों में ये नहीं पाये गये हैं। इन लांछनों की सूची न तो किन्हीं आगमों (Canonical texts) में, न तो कल्पसूत्र में जिसमें चौबीस जिनों का जीवन वृत्तान्त दिया है, न निर्युक्तियों में और न ही चूर्णियों में दी गई है। केवल आवश्यक निर्युक्ति में एक स्थान पर इस तथ्य का निर्देश दिया गया है कि ऋषभ नाम इसलिये रखा गया क्योंकि उनके उरुओं (thighs) में ऋषभ (bull) का चिह्न (sign) था।[१] परन्तु उसमें अन्य जिनों के कोई भी लांछन नहीं दिये गये हैं। यह निर्युक्ति, जो आज उपलब्ध है, दूसरी या तीसरी सदी के पूर्व की मान्य नहीं है। लगभग पांचवी सदी का ग्रंथ 'वसुदेवहिण्डी', जिसमें अनेक तीर्थंकरों (उदाहरणार्थ– ऋषभनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ एवं अन्य) का जीवन चरित्र दिया गया है, में भी उनके लांछनों का कोई उल्लेख नहीं है। दिगम्बरों में भी पूर्व के ग्रन्थों, जैसे जटासिंहनन्दि के वरांगचरित्र (लगभग छठीं सदी) में, या जिनसेन (लगभग ७५०-८४० ईस्वी पश्चात्) और उनके शिष्य गुणभद्र (लगभग ८३० A.D.) के क्रमशः आदिपुराण और उत्तरपुराण में अथवा जिनसेन (७८३ ईस्वी सन्) के हरिवंश में, अथवा रविषेण (६७६ A.D.) के पद्मचरित्र में ये सूचियाँ नहीं दी गई हैं। तिलोयपण्णत्ति (चतुर्थ या पांचवीं सदी) में एक सूची दी गयी है, किन्तु वह आज प्राप्य (उपलब्ध) ग्रंथ में बाद में हुए अंतर्क्षेप (interpolation) रूप दिखाई देता है, जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट है कि एक स्थान पर उसमें बालचन्द्र सैद्धान्तिक का संदर्भ आया है। इसलिये तिलोयपण्णत्ति का साक्ष्य सावधानी से व्यवहृत किया जाना है। इस वर्तमान ग्रन्थ की तिथि, इस ग्रन्थ

* ५५४, सराफा, जबलपुर-४८२००२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के सम्पादक स्वर्गीय प्रोफेसर आदिनाथ उपाध्ये द्वारा लगभग छठीं सदी निकाली गयी है।

इन परिस्थितियों में दोनों सम्प्रदायों के द्वारा प्रदत्त लांछनों के सूची की तुलना करना आवश्यक है। परिशिष्ट में दी गयी सूची से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र के अनुसार चौदहवें जिन अनन्तनाथ का लांछन श्येन या बाजपक्षी (falcon) है जो अन्तर के बिन्दुओं को दर्शाता है। यह दिगम्बर परम्परा के अनुसार है। दसवें जिन शीतलनाथ का हेमचन्द्र के अनुसार लांछन श्रीवत्स है किन्तु दिगम्बरों के अनुसार स्वस्तिक (तिलोयपण्णत्ति) या श्री-द्रुम (प्रतिष्ठासारोद्धार) है। पुन: अरनाथ, अठारहवें जिन का लांछन दिगम्बर परम्परा में मत्स्य है[२] किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार नन्द्यावर्त है।

चूँकि दोनों जिन सम्प्रदायों में से किसी में भी लांछनों के लिये सर्वपूर्व उपलब्ध साहित्यिक उद्गम उनके मूल के पश्चात् का है और चूँकि उनकी सूचियों में कुछ अन्तर (भिन्नताएँ) है, हमें लांछनों के मूल स्रोत के काल के बारे में शुद्ध हल तक पहुँचने हेतु पुरातात्त्विक साक्ष्य को भी खोजना चाहिए। जहाँ तक साहित्यिक साक्ष्य के विश्लेषण का सम्बन्ध है, यह काल कम से कम मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों के अंतिम रूप से जुदा (अलग) होने के काल के समसामयिक होना चाहिए, और यह काल (युग) जैसा कि मैंने अन्यत्र दिखलाया है, पांचवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश के आसपास होना चाहिए। यह काल द्वितीय वलभी परिषद् (council) के निकट कहीं होना चाहिए। अन्यथा सामान्य सहमति (concordance) संतुष्टि पूर्वक समझायी नहीं जा सकती है। यह काल सम्भवत: दो भिन्न सूचियों के अंतिम निर्णय का होना चाहिए न कि आवश्यक रूप से लांछनों की अवधारणाओं के उद्गम का। यह निम्नलिखित परिचर्चा से और अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

अभी तक ज्ञात, सर्वपूर्व मूर्तिशिल्प, राजगिर से प्राप्त नेमिनाथ का मूर्ति शिल्प है जिसकी पादपीठ पर लांछन है, जिसे सर्वप्रथम रामप्रसाद चंदा द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका सिर अलग कर दिया गया है तथा बुरी तरह विरूपित (deface) कर दिया गया है, किन्तु मूर्ति शिल्प का शेष भाग भली-भाँति सुरक्षित है। पादपीठ के केन्द्र में एक युवा व्यक्ति किसी आयताकार चक्र के समक्ष खड़ा है, दोनों गुप्त काल की अचूक शैली में सुंदरतापूर्वक उकेरे गये हैं। प्रत्येक बाजू में एक शंख है जो दोनों सम्प्रदायों के अनुसार नेमिनाथ का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लांछन है। जैसा कि चन्दा ने पढ़ा है, पादपीठ के किनारे पर एक शिलालेख की आंशिक रूप से सुरक्षित लकीर, उस चंद्रगुप्त को निर्दिष्ट करती है जिसे शिलालेख की लिपि के साक्ष्य से चंद्रगुप्त-II के रूप में पहचाना गया है।

कुषाण काल के मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त मूर्तिशिल्प पर तीर्थंकरों के लांछन नहीं पाये जाते हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, गुप्तकाल के राजगिर से प्राप्त मूर्तिशिल्प पर वे दिखाई दिये हैं, परन्तु उनकी स्थिति अंतिम रूप से निर्णीत (fixed) नहीं हुई थी।

वैभार पहाड़ी से गुप्तोत्तर काल का मूर्तिशिल्प, आदिनाथ को प्ररूपित करता हुआ लगभग सातवीं-आठवीं सदी का प्राप्त हुआ है जिसकी पादपीठ पर प्रत्येक बाजू में ऋषभ के द्वारा घेरे हुए (flanked) धर्म-चक्र है। ऋषभ, आदिनाथ का लांछन है जिन्हें अपने कंधों पर छाये हुए केश कुंडल के द्वारा भी पहचाना गया है (देखिये, "*Jaina Art and Architecture*"- A Ghosh द्वारा सम्पादित, भाग १, प्लेट ९०)। तत्पश्चात् धर्मचक्र को बाजू से घेरे हुए दो हिरण हैं जबकि लांछन धर्मचक्र के या तो ऊपर या नीचे, पादपीठ पर हैं।

नछन कुठर के निकट सीता पहाड़ी से, मध्य भारत में दो मूर्तिशिल्प हैं, जिनमें से एक कायोत्सर्ग मुद्रा में ऋषभनाथ हैं और अन्य पद्मासन मुद्रा में महावीर हैं, (*Jaina Art and Architecture*, भाग-१)[३] जहाँ पादपीठ के दोनों सिरों पर प्रत्येक पर लांछन है जब कि धर्मचक्र सामान्यतया केन्द्र में है। दोनों मूर्तिशिल्प कुषाण काल से गुप्तकाल शैली में हुई संक्रमण की प्रथमश्रेणी (stepe) को प्ररूपित करते हैं।

राजगिर मूर्ति शिल्पों में से एक अत्यंत जिज्ञासापूर्ण नमूना खोजा गया है। यहाँ पद्मासन पर स्थित तीर्थंकर के सिर के ऊपर सात सर्पफण हैं– और इसलिये वह या तो पार्श्वनाथ अथवा सुपार्श्वनाथ होना चाहिये, क्योंकि अन्य किसी भी तीर्थंकर के सिर पर सर्पफण नहीं होते हैं। धर्म-चक्र के प्रत्येक ओर एक शंख है जो दोनों सम्प्रदायों के अनुसार नेमिनाथ का लांछन है। इसलिये स्पष्ट है कि या तो यह मूर्ति शिल्पी की भूल थी या लांछन तब तक अंतिम रूप से निर्णीत नहीं हुए थे। यह मूर्तिशिल्प पालकालीन कला का अपरिष्कृत नमूना है।

यद्यपि चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियों में से एक मूर्ति का भी वर्णन जैन आगमिक अंग ग्रंथों में नहीं मिलता है, तथापि सिद्धायतन कहे जाने वाले शाश्वत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चैत्यों में शाश्वत-जिन-प्रतिमाओं के थोक (stock) वर्णन से जिन-प्रतिमा की पूर्व अवधारणा प्राप्त कर सकते हैं। दोनों सम्प्रदायों की जैन परम्पराएँ सिद्धायतनों का निर्देश करती हैं। इनमें शाश्वत-जिनों की मूर्तियाँ हैं। ये मूर्तियाँ चार जिनों की हैं, नामतः चन्द्रानन, वारिषेण, ऋषभ और वर्द्धमान।[४] उन्हें शाश्वत जिन इसलिये कहते हैं क्योंकि प्रत्येक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल में इनके नाम सदैव दोहराये जाते हैं और वे पंद्रह कर्मभूमियों में से किसी में भी विकसित होते हैं। सिद्धायतनों और शाश्वत जिनों का बृहद् विवरण जीवाभिगमसूत्र नामक उपांग ग्रन्थ में उपलब्ध है।[५] ये सिद्धायतन विभिन्न स्वर्गों तथा पर्वत शिखरों पर पाये जाते हैं।

विभिन्न तीर्थंकरों के लांछनों का कोई भी निर्देश पुनः इन वर्णनों में नहीं पाया जाता है। लगभग छठी सदी के एक लेखन में वराहमिहिर कहते हैं कि अर्हतों के अनुयायियों के प्रभु घुटने तक पहुँचने वाली भुजाओं तथा वक्ष पर श्रीवत्स के चिह्न (mark) द्वारा प्ररूपित किये जाते हैं। दिखने में युवा एवं सुन्दर, प्रभु का मुख शांतिपूर्ण होता है तथा उनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं होता। इस प्रकार वराहमिहिर ने जिनबिम्बों के लांछनों का कोई निर्देश नहीं किया है।

मथुरा में हुई लगभग ३००-३१५ ईस्वी सन् की परिषद् में आर्य स्कन्दिल की वाचना के युग में भी समवायांगसूत्र, कल्पसूत्र एवं स्थानांगसूत्र में लांछनों की सूची प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त अवकाश था। परन्तु ऐसे आगम ग्रंथों में भी लांछनों का अभाव है। यहाँ तक कि लगभग ईस्वी सन् ४५३ के वलभी वाचना में भी हम ऐसे ग्रन्थों के उल्लेख नहीं पाते हैं।

निष्कर्षत: स्पष्ट है कि जिन बिम्बों के पादपीठों पर लांछन चौथी या पांचवीं ईस्वी सदी से दिये जाने लगे होंगे, किन्तु पादपीठ पर उनकी स्थिति निश्चित नहीं थी, न ही कला में लांछन सार्वभौमिक रूप से लोकप्रिय है। लखनऊ के प्रादेशिक संग्रहालय में एक छोटा वर्गाकार स्तम्भ, क्रमांक J. 268 है जिसमें केवल दो ओर निम्न उभारदार उकेरण (low relief carvings) हैं जो मात्र मथुरा के कंकाली टीले से लाई गईं हैं। एक पर उभरे आकार में सिंहारूढ़ स्तम्भ की परिक्रमा करते हुए एक पुरुष और एक स्त्री दर्शाए गये हैं। उकेरण की शैली लगभग द्वितीय या प्रथम सदी ईसवी पूर्व की प्रतीत होती है। इस उभारदार आकार में स्तम्भ की परिक्रमा दर्शाती है कि यह सिंह-स्तम्भ एक पवित्र वस्तु माना जाता था। यह हमें उस गरुड़ध्वज का स्मरण कराता है जिसे विदिशा में विष्णु मन्दिर के समक्ष हेलिओडोरस द्वारा स्थापित कराया गया था। हमें तल-ध्वज राजधानी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के बारे में ज्ञात है (जो बलराम के तीर्थ-मंदिर के समक्ष स्थापित किया गया होना चाहिए) तथा वट-वृक्ष-स्तम्भ (bunyan-tree capital) जो सम्भवत: कुबेर के मंदिर के समक्ष स्तम्भ से है। एक मकरध्वज स्तम्भ (capitals) है जो सम्भवत: कामदेव या प्रद्युम्न के तीर्थ-मंदिर के समक्ष स्तम्भ से लाया गया।

यह सिंह-ध्वज (lion-pillar) जो मथुरा के जैनियों द्वारा पूज्य माना जाता है वह एक बड़े सिंहध्वज के उभारदार आकार (relief) में से प्रतिनिधित्व (representation) करने वाला लघु चित्र (miniature) है। यह संभवत: महावीर को समर्पित किसी मंदिर के समक्ष निर्मित किया गया था क्योंकि सिंह महावीर के लांछन रूप में ज्ञात है।

अब यह जानना रुचिकर होगा कि आचार्य हेमचन्द्र अपने अभिधान-चिन्तामणि-कोश में चौबीस जिनों के लांछनों को 'अर्हतम् ध्वज:'[६] से अभिहित करते हैं। यही दृष्टिकोण दिगम्बर लेखक पण्डित आशाधर भी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक जिन का लांछन उसके छत्रिय कुटुम्ब या वंश (herald) के आधार पर निर्धारित किया गया ।[७] प्रो० वी. एस. अग्रवाल द्वारा प्रकाशित अहिच्छत्र मृण्मूर्ति फलक (terracotta plaque) से हमें ज्ञात होता है कि दो महाभारत के युद्ध करते हुए योद्धाओं के निजी ध्वजाओं (banners) पर दो भिन्न प्रतीक सुअर तथा चंद्रकला थे। जैन परम्पराओं के अनुसार सभी तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय वंशों में हुआ था। अत: उनकी ध्वजाओं पर अंकित प्रतीक ही उनके संज्ञान चिह्न (cognizance) माने जाते थे जो लगभग चौथी या पांचवीं ईस्वी सदी के पश्चात् तीर्थंकरों की मूर्तियों (images) पर दृष्टिगत होने लगे ताकि उनकी पहचान सुविधाजनक ढंग से हो सके। यह आवश्यक भी था क्योंकि विभिन्न तीर्थंकरों के सभी मूर्तिशिल्प एक निश्चित रूप वाले रहते हैं, चाहे वे कायोत्सर्ग मुद्रा में हों या पद्मासन पर। कुषाण काल में, तीर्थंकरों के बिम्बों पर लांछन उकेरे नहीं जाते थे और वे तभी पहचाने जा सकते थे जब उनके नाम उनकी पादपीठ पर शिलालेखों में उल्लिखित किये जाते थे। इसलिये यह निष्कर्ष निकाला गया कि कुषाणकाल के पश्चात् लांछनों की प्रस्तुति हुई। किन्तु अब कुषाण कालावधि में मथुरा के जैनियों में सिंह-ध्वज पूज्य वस्तु रही है, अत: यह कल्पना करना तर्क योग्य होगा कि कुषाण काल में और कम से कम लगभग प्रथम या द्वितीय सदी में विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ मंदिरों हेतु विभिन्न ध्वज-स्तम्भों या ध्वज प्रतीकों (emblems) का अस्तित्व था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिंहानादिक द्वारा समर्पित आयाग पट (क्रमांक J. 249, प्रदेश संग्रहालय, लखनऊ)[८], जो कंकाली टीला, मथुरा से खोजा गया था, उसमें केन्द्र में जिन बैठे हुए हैं और पट के सिरों पर दो स्तम्भ हैं, एक के ऊपर धर्मचक्र है और दूसरे के ऊपर एक हाथी है। जैन परम्परा में हाथी को दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का लांछन माना जाता है। यहाँ वह जिन के ध्वज-प्रतीक (emblem) के रूप में प्रदर्शित है।

भद्रनन्दि द्वारा प्रतिष्ठित आयागपट (क्रमांक J. 252, प्रदेश संग्रहालय, लखनऊ) पर हमें उसी प्रकार एक स्तम्भ प्राप्त हुआ है जिसपर धर्मचक्र है और दूसरे स्तम्भ पर एक सिंह आरूढ़ है। इस आयागपट के केन्द्र में प्रतिष्ठित जिन आकृति इसलिये अवश्य ही महावीर के रूप में पहचानी जानी चाहिए।[९]

अत: हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कम से कम प्रथम या द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व में जैनियों में प्रथानुसार तथा व्यवहार से भी तीर्थंकरों के मंदिरों के समक्ष ध्वज-स्तम्भ निर्मित किये जाते थे और बाद में ये ही ध्वज-प्रतीक तीर्थंकरों के बिम्बों पर लांछनों (cognizances) के रूप में प्ररूपित किये जाने लगे।

परिशिष्ट

तीर्थंकरों के लांछनों की सूची[१०]

१.	ऋषभनाथ	ऋषभ
२.	अजितनाथ	हाथी
३.	सम्भवनाथ	अश्व
४.	अभिनन्दन	बन्दर
५.	सुमति	क्रौञ्च (श्वे.) कोक (दिग.)
६.	पद्मप्रभ	कमल
७.	सुपार्श्व	स्वस्तिक (श्वे.) नन्द्यावर्त (दिग.)[११]
८.	चन्द्रप्रभु	चन्द्रकला
९.	पुष्पदन्त (सुविधिनाथ)	मगर
१०.	शीतलनाथ	श्रीवत्स (श्वे.), स्वस्तिक (दिग.)[१२]
११.	श्रेयांस	खड्गी (श्वे.), गेंडा (दिग.)
१२.	वासुपूज्य	भैंसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३.	विमलनाथ	शूकर, वाराह
१४.	अनन्तनाथ	श्येन या बाज (श्वे), सेही (? ति.प.) या ऋक्ष दिग.)[१३]
१५.	धर्मनाथ	वज्र
१६.	शान्तिनाथ	हिरण
१७.	कुन्थुनाथ	मेढ़ा
१८.	अरनाथ	नन्द्यावर्त (श्वे.), मत्स्य (अन्य दिग.), तगर कुसुम (ति.प.)[१४]
१९.	मल्लिनाथ	कुम्भ
२०.	मुनिसुव्रत नाथ	कछुवा
२१.	नमिनाथ	नील कमल
२२.	नेमिनाथ	शंख
२३.	पार्श्वनाथ	सर्प
२४.	महावीर	सिंह

(अहिंसा वायस- ३ जुलाई १९८९)

सन्दर्भ

१. **आवश्यक निर्युक्ति**, गाथा १०८०, आवश्यक निर्युक्ति पर हरिभद्र की वृत्ति, पृ. ५०२,

२. **तिलोयपण्णत्ति** (TP, 4.605) का तगर कुसुम, प्रतिष्ठासारोद्वार का तगर। तिलोय पण्णत्ति के सम्पादकों ने तगरकुसुम का अर्थ मत्स्य से लिया है जो दिगम्बर कन्नड, इत्यादि पर आधारित टी.एन.राम चंद्रन के ग्रंथ तिरुप्परुत्तिकुनरम् और उसके मंदिर (Tirupparutti and its temples) में पृष्ठों १९२-१९४ पर दी गयी सारणी पर आधारित है।

३. A.S.I., A.R., 1925-26. पृ. १२५-२६ प्लेट 1 vi, b. Shah, U.P., *Studies in Jaina Art (*P.V.R.I. Banaras, 1955), प्लेट VII.

४. **स्थानांग सूत्र**, ४, सू. ३०७, **जीवाभिगम सूत्र**, सू. १३७, पृष्ठ २२५ एवं अनुगामी।

५. **जीवाभिगम सूत्र** १३९, पृ. २३२-३३ दिगम्बर परम्परा के अनुसार विभिन्न स्थलों पर सिद्धायतनों के लिये, देखिये हरिवंश, ५-६, पृ. ७०.१४०

६. देखिए–

वृषोगजोऽश्वः प्लवगः क्रौञ्चोऽब्जं स्वस्तिकः शशी।
मकरः श्रीवत्सः शड्गी महषिः शूकरस्तधा ॥४७॥
कूयेनो वज्रं मृगश्छागो नन्द्यावर्तो घटोऽपि च।
कुर्मो नीलोत्पलं शङ्खः फणी सिंहोऽर्हता ध्वजाः ॥४८॥

अभिधान चिंतामणि I. 47-48

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. देखिए–
वंशेजगत्पूज्या तमे प्रतीतं पृथग्वियं तीर्थकृतां यदत्र।
तल्लांछनं संव्यवहार सिद्धयै बिम्बे जिनस्येह निवेशयामि॥
–**प्रतिष्ठासारोद्धार**, पृ. २१४, पृ. ११५

८. *Studies in Jaina Art*, Pl. IV, fig. 13

९. **अभिधान-चिन्तामणि** I. 47 f. p. 17 श्वे. सूची के लिए **तिलोयपण्णत्ति** (TP), 4. 604-05, पृ. २०९ दिग. सूची के लिए।

१०. **प्रतिष्ठासारोद्धार** के अनुसार स्वस्तिक, पृ. ९, गाथा ७८।

११. **प्रतिष्ठासारोद्धार** के अनुसार श्रीद्रुम, पृ. ९, गा. ७८

१२. **प्रतिष्ठासारोद्धार** के अनुसार सेढिका।

१३. **तगरम्**, वही, पृ. ९, गाथा ७९

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

फतेहपुर सीकरी से प्राप्त श्रुतदेवी (जैन सरस्वती) की प्रतिमा

डॉ. अशोक प्रियदर्शी*

सीकरी आगरा जिलान्तर्गत जिला मुख्यालय के दक्षिण में लगभग ३५ कि.मी. दूर विन्ध्याचल की श्रृंखलाओं के विस्तार पर एक विशाल प्राकृतिक झील के किनारे पर स्थित है जो अब प्रायः सूख चुकी है (जैन साहित्य में इस झील को 'मोती झील' अथवा 'डाबर झील' कहा गया है)।[१] जबकि फतेहपुर मुख्य रूप से सीकरी के निकट ही दक्षिण में मुगल बादशाह अकबर द्वारा अपनी द्वितीय राजधानी आदि के निमित्त निर्मित भव्य एवं शानदार स्मारकों का देदीप्यमान समूह है। इस प्रकार फतेहपुर सीकरी दो प्रमुख स्थलों का संयुक्त नाम है। वर्तमान में फतेहपुर सीकरी की विश्व-प्रसिद्धि का कारण अकबर द्वारा निर्मित यहाँ के गौरवपूर्ण स्मारक हैं जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा संरक्षित किये जा चुके हैं।[२] कालान्तर में यूनेस्को द्वारा इन स्मारकों के समूह को उनकी किलेनुमा दीवारों एवं विशाल दरवाजों सहित संरक्षित करते हुए इसे 'विश्वदाय स्थल' घोषित किया गया।[३]

१९८२-८३ ई. में सीकरी की उपर्युक्त झील के दक्षिण-पूर्वी किनारे पर स्थित बीरछबीली टीला के उत्खनन से कुछेक जैन मूर्तियाँ, स्थापत्य-सम्बन्धी अवशेषों के साथ-साथ एक जैन मन्दिर का अधिष्ठान भी प्रकाश में आया।[४] १९९८-९९ ई. में फतेहपुर सीकरी के क्षेत्र से एक वृहद् सर्वेक्षण के समय बड़ी सख्या में जैन एवं वैदिक धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ एवं मन्दिरों के स्थल प्राप्त हुए।[५] इन उपलब्धियों से उत्साहित होकर मुगल शासक बाबर के पूर्व इस क्षेत्र का इतिहास एवं पुरातत्त्व जानने के उद्देश्य से यहाँ के किसी एक पुरा-स्थान का उत्खनन कराना आवश्यक हो गया। ऐसी स्थिति में बीरछबीली टीला का पुनः विधिवत उत्खनन कराया गया जिसमें बड़ी संख्या में जैन मूर्तियाँ

* चामेलिका, विवेक विहार, मैनपुरी-२०५००१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिलेखों के साथ प्राप्त हुई हैं।[६] प्राप्त मूर्तियों में श्रुतदेवी जैन सरस्वती की मूर्ति विलक्षण एवं अद्वितीय है।[७] आलोच्य शोध-पत्र में इस अनुपम कृति का ही वस्तुपरक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ श्रुतदेवी जैन सरस्वती की गुलाबी रंग की प्रस्तर-मूर्ति का प्राप्त होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह मूर्ति अलंकृत पादपीठ पर अंकित कमल-पुष्प पर त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी है।[८] यद्यपि यह मूर्ति पैरों के पास से खंडित है, फिर भी अपने मूर्ति-विन्यास के कारण हिन्दू सरस्वती से पूर्णतः पृथक प्रतीत होती है। जैन साहित्य में इस मूर्ति को 'वास्तु' एवं 'प्रतिमा' के रूप में जाना जाता है।[९] इस मूर्ति में देवी को पूर्ण युवा दर्शाया गया है, उनका रंग साफ है। उनके सिर पर प्रभामंडल है तथा वे सिर से पांव तक सभी प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हैं। उनके चार हाथ हैं जिनमें से दाहिने दो हाथों में वे क्रमशः कमल एवं वरद, जबकि बायें अन्य दो हाथों में क्रमशः पुस्तक एवं माला पकड़े हुए हैं। स्मरण रहे कि इस मूर्ति का दायाँ-बायाँ क्रमशः एक-एक हाथ टूटा हुआ है। उनके प्रसिद्ध वाहन हंस का भी गर्दन के ऊपर का सम्पूर्ण अंग टूट गया है। मूर्ति के दोनों ओर पादपीठ पर अवस्थित खंडित स्तंभों के चार सुरक्षित ताखों में जिनों की मूर्तियाँ विभिन्न मुद्राओं में उत्कीर्ण हैं जो इस मूर्ति की यथेष्ट पहचान के लिए पर्याप्त हैं कि अमुक मूर्ति जैन सरस्वती की है। इसकी छवि अद्भुत है। देवी के जटामुकुट में कमल की कलियाँ गुथी हुई हैं। अलंकृत कीर्ति-मुख, माथे पर संकुचित-लट, कानों में तीन प्रकार के कुण्डल, ग्रविका (गले का आभूषण), कंठश्री (कंठ की शोभा), वैयजन्तीहार, भुजाओं में अलंकृत एवं दुहरे केयूर (बाजूबंद), कलाइयों में हस्तवलय (कंगन), चीते जैसे लोचदार कटि प्रदेश पर कटिसूत्र, जंघाओं पर घुटनों तक सुसज्जित उरुद्दाम, पैरों में पादवलय आदि वस्त्राभूषणों के साथ-साथ धनुषाकार भौंहें, रतनारे नयन, पतली एवं लम्बी नाक, गोल ठोढ़ी, प्रभावशाली गाल एवं पतले होठों के अतिरिक्त सम्पूर्ण अंग-सौष्ठव इस कृति के श्री-सौंदर्य को द्विगुणित करते हुए उत्कृष्ट मूर्तिकला को प्रदर्शित करता है। इसकी पादपीठ पर १०वीं-११वीं सदी की नागरी लिपि में, संस्कृत एवं स्थानीय भाषा में दो पंक्तियों का एक अभिलेख उत्कीर्ण है।[१०] इसका लिप्यंत्रण इस प्रकार है-

"ओं (सिद्धम्) संवत्सहस्रे सप्तषष्ठे सैकरिक्य श्रीवज्रामराज्ये सांतिविमलाचार्यवसतौ वैसाखस्य सुद्धनवम्यां संचामरभल्लिक्कयशेंष्ठीभिः स्रीसरस्वती संस्थापिता आहिलेन च"। (ओं (सिद्धम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विक्रम संवत् १०६७ वैसाख शुक्लपक्ष की नवमी (१०१०ई.) के दिन सैकरिक्य में श्री वज्राम के राज्य में शांतिविमलाचार्य की बस्ती में संचामर और भल्लिक्य गोत्र वाले सेठों के द्वारा श्री सरस्वती की प्रतिमा स्थापित करवायी गयी, और आहिल ने भी)।[११] स्मरणीय है कि श्रुतदेवी की उपासना अत्यन्त विशाल प्रकार के जैन मंदिरों में होती थी।[१२] सारतः यह मूर्ति सीकरी के बड़े जैन मन्दिर में उपासना के निमित्त प्रतिष्ठित थी।

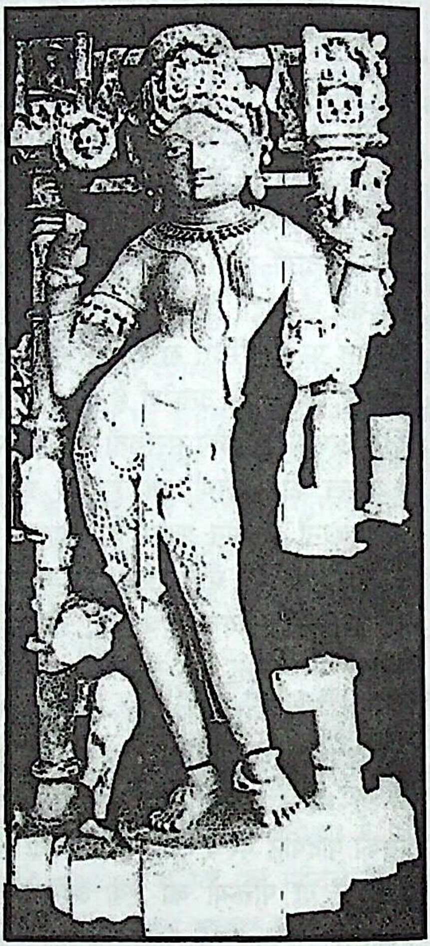

ऐसा प्रतीत होता है कि आहिल उस शिल्पी का नाम है जिसने मूर्ति उत्कीर्ण की थी। उसका भी योगदान इस मूर्ति की स्थापना में है। चूँकि मूर्तिकार ने अपना नाम बाद में जोड़ा है, इसलिए शेष लेख की अपेक्षा आहिल शब्द सुन्दर एवं बड़े अक्षरों में अंकित है। इस सन्दर्भ में ऐसे ही विचार अधिकांश विद्वानों के हैं।[१३] अभिलेख की भाषा, व्याकरण एवं शाब्दिक दृष्टि से कमजोर है, और कई शब्द तो अपभ्रंश हैं। लेख में उल्लिखित 'सैकरिक्य' शब्द महाभारत[१४] में इस स्थल के प्रयुक्त शब्द 'सैक' से बहुत–कुछ मिलता है, साथ ही दोनों शब्द लगभग एक जैसे अभिप्राय से युक्त प्रतीत होते हैं। वास्तव में दोनों शब्द अपने–अपने कालान्तर्गत स्थान विशेष के लिए आरोपित किये गये होंगे। श्री वज्राम ग्वालियर का कच्छपघाट शासक वज्रदमन है जो लक्ष्मण का पुत्र था। महिपाल कालीन ग्वालियर अभिलेखानुसार राजा वज्रदमन ने ९७५–९५ ई. तक शासन किया था।[१५] परन्तु आलोच्य अभिलेख इस ग्वालियर नरेश के शासनकाल को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०१० ई. तक विस्तारित करते हुए यह भी उद्‌घाटित करता है कि वज्रदमन के समय में कच्छपघाट वंश का आधिपत्य फतेहपुर सीकरी तक तो निश्चित रूप से स्थापित था।

इस अद्वितीय मूर्ति के सौम्य-सौंदर्य को देखते हुए पुरातत्त्वविद् डॉ. धर्मवीर शर्मा का कथन है कि अब विश्व में फतेहपुर सीकरी को इस अद्वितीय मूर्ति के कारण जाना जायेगा। यदि विश्व में फतेहपुर सीकरी का नाम अमर रहेगा तो इस मूर्ति के कारण। विश्व के किसी भी जैन मन्दिर में इतनी सुन्दर जैन सरस्वती की मूर्ति नहीं है।[१६] वास्तव में इतनी प्राचीन मूर्ति होते हुए भी इसका मनमोहक रूप देखते ही बनता है। कौन ऐसा कला-पारखी होगा जो इसकी अप्रियम सुन्दरता को देखकर दंग न रह जाये? निश्चित रूप से यह अनुपम कृति २०वीं सदी में प्राप्त महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक उपलब्धियों में से एक है। स्पष्ट है कि प्राचीन काल में फतेहपुर सीकरी जैन धर्म, कला-संस्कृति का लब्ध-प्रतिष्ठित केन्द्र रहा होगा।

सन्दर्भ

१. शर्मा, डी.वी – **'एक्सकेवेसन एट बीरछबीली टीला, सीकरी'**, पृ. ५६

२. **न्यूली डिस्कवर्ड इन्स्क्रप्शन्स फ्राम एक्सकेवेशन एट फतेहपुर सीकरी**, आ.स.इ., आगरा सर्किल, पृ. ५

३. वही-पृ. ५

४. शर्मा, डी.वी. – **'एक्सकेवेसन एट बीरछबीली टीला, सीकरी'**, पृ. ५६

५. **रिसेन्ट डिस्कवरीज एण्ड कन्जरवेसन ऑव मोनूमेण्ट्स**, आ.स.इ., आगरा सर्किल, पृ. ३

६. शर्मा, डी.वी. – **'एक्सकेवेसन एट बीरछबीली टीला, सीकरी'**, पृ. ५६-६२

न्यूली डिस्कवर्ड इन्स्क्रप्शन्स फ्राम एक्सकेवेशन एट फतेहपुर सीकरी, आ.स.इ., आगरा सर्किल, पृ. ७

७. शर्मा, डी.वी. – **'एक्सकेवेसन एट बीरछबीली टीला, सीकरी'**, पृ. ६०-६१

न्यूली डिस्कवर्ड इन्स्क्रप्शन्स फ्राम एक्सकेवेशन एट फतेहपुर सीकरी, आ.स.इ., आगरा सर्किल, पृ. ७

८. शर्मा,डी.वी.– **'एक्सकेवेशन एट बीरछबीली टीला, सीकरी**, पृ. ६१,प्लेट-६

९. **वही**, पृ. ६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. वही, पृ. ६२
११. **न्यूली डिस्कवर्ड इन्स्क्रप्शन्स फ्राम एक्सकेवेशन एट फतेहपुर सीकरी**, आ.स.इ., आगरा सर्किल, पृ. ७ शर्मा, डी.वी. – **'एक्सकेवेसन एट बीरछबीली टीला, सीकरी'**, पृ. ७१
१२. **न्यूली डिस्कवर्ड इन्स्क्रप्शन्स फ्राम एक्सकेवेशन एट फतेहपुर सीकरी**, आ.स.इ., आगरा सर्किल, पृ. ८
१३. शर्मा, डी.वी. – **'एक्सकेवेसन एट बीरछबीबी टीला, सीकरी'**, पृ. ७१
१४. **न्यूली डिस्कवर्ड इन्स्क्रप्शन्स फ्राम एक्सकेवेशन एट फतेहपुर सीकरी**, आ.स.इ., आगरा सर्किल, पृ. ३
१५. शर्मा,डी.वी.–**'एक्सकेवेसन एट बीरछबीली टीला, सीकरी'**, पृ. ६२-६३
१६. वही -पृ. ६२-६३

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

कला की अनुपम कृति जबलपुर का श्री शीतलनाथ मंदिर

कृष्णमुरारी पाण्डेय*

नर्मदा के प्राकृतिक सौन्दर्य के किनारे बसा और जाबालि ऋषि के नाम से पूर्व में जाबालिपुर और कालान्तर में जबलपुर के नाम से मशहूर इस नगरी की सजीव संस्कृति को देखकर संत विनोबा भावे ने इसे इतिहास के पन्नों पर "संस्कारधानी" से विशेषालंकृत किया है। रानी दुर्गावती १६वीं शताब्दि में यहाँ की रानी हुईं जिन्होंने इस नगरी को काफी विकसित किया। एशिया का सबसे बड़ा दूरसंचार प्रशिक्षण केन्द्र, अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले सुरक्षा संस्थान, सिग्नल्स का नेशनल हेडक्वार्टर, पिशनहारी की मड़िया, नंदीश्वर द्वीप, संगमरमरी चट्टानों के मध्य से बहने वाली नर्मदा के प्राकृतिक सौन्दर्य जबलपुर की निजी विशेषता है।

जबलपुर विद्या और संस्कृति का केन्द्र तो है ही, साथ ही साथ सम्पूर्ण भारत का भौगोलिक केन्द्र भी है। साहित्य मनीषी श्री माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, रामेश्वर शुक्ल अंचल, हरिशंकर परसायी, व्याकरणाचार्य श्री कामता प्रसाद सिंह, आचार्य रजनीश और महर्षि योगी आदि जैसी विभूतियाँ इस नगरी में हुईं।

करीब १६ लाख की आबादी वाली इस नगरी में लगभग ७५ हजार जैन हैं जिसमें मात्र बारह-तेरह सौ की आबादी में ही श्वेताम्बर समाज है। फिर जबलपुर जैन संस्कृति का पोषक रहा है। जबलपुर में जैन श्वेताम्बर और दिगम्बर समाज के ऐसे अनेक जिनालय हैं जो श्रद्धालुओं को अपूर्व शांति और आत्मिक उत्थान देते हैं। इनमें मिलौनीगंज का श्री वंशीलाल ड्योढिया का व्यक्तिगत दिगम्बर जैन मंदिर, पुरानी बजाजी स्थित श्री नेमिनाथ मंदिर और दिगम्बर जुग मंदिर, सदर बाजार स्थित श्वेताम्बर समाज का मंदिर, सिम्पलेक्स स्थित नूतन

* पूर्व शोधछात्र, प्रा.भा.इ.सं एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं भव्य शंखेश्वर तीर्थ की प्रतिकृति ''श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जिनालय'' तथा सराफा का जैन श्वेताम्बर मंदिर आराधना एवं उपवास का सुखद वातावरण प्रस्तुत करते हैं। इन सभी मंदिरों से जबलपुर की महत्ता और भी अधिक बढ़ जाती है।

इन सभी मंदिरों में सराफा स्थित **श्री शीलतनाथ प्रभु का श्वेताम्बर जैन मंदिर** अपने शिल्प और स्थापत्य की वजह से जबलपुर का गौरव प्रतीत होता है। करीब १३० वर्ष प्राचीन इस मंदिर में लगभग ४४० वर्ष पुरानी कसौटी पाषाण की प्रभु श्री शीतलनाथ की प्रतिमा मूलनायक के रूप में स्थापित है। यहाँ प्रति वर्ष माघ शुक्ल त्रयोदशी को मंदिर का प्रतिष्ठा महोत्सव बड़े ही धूम-धाम के साथ मनाया जाता है।

जबलपुर के श्वेताम्बर जैन धर्मावलंबियों की यह भावना थी कि श्री शीतलनाथ प्रभु के १३० वर्ष प्राचीन इस जिनालय का जीर्णोद्धार कराकर एक ऐसे भव्य मंदिर का निर्माण कराया जाय जो वास्तुकला की दृष्टि से तो अनुपम हो ही, साथ ही साथ दार्शनिक स्थलों की सूची में जबलपुर के इतिहास के पन्नों में इसका नाम भी शामिल हो और यह विदेशी पर्यटकों के लिये पर्यटन स्थल बने। इसी दृष्टि से श्री श्वेताम्बर जैन ट्रस्ट के अन्तर्गत ही मंदिर जीर्णोद्धार कार्य को पूर्ण करने के निमित्त ''श्री शीतलनाथ जिनालय निर्माण समिति बनी और १६ अप्रैल १९८४ को इस जिनालय के जीर्णोद्धार हेतु भूमि पूजन का कार्य कराया गया।

वर्ष १९८४ से जिनालय का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ और पूरे होने तक श्री शतिलनाथ प्रभु जिनालय का बाहरी निर्माण वंशी पहाड़पुर राजस्थान के गुलाबी बलुए पत्थर से किया गया है। जब कि मंदिर के अन्दर की भित्ति मकराने के श्वेत संगमरमर से बनी है।

धरातल से ५१ फुट ऊँचे, ७५ फुट लम्बे तथा ५५ फुट चौड़े इस मंदिर के पाँच भाग हैं– गर्भ गृह, कौली मण्डप, गूढ़ मण्डप, शृंगार चौकी तथा चौकी। मंदिर के सभी स्तम्भों पर तीर्थंकरों की मंगल प्रतिमायें चांवरधारी, दिक्पाल और विद्या देवियाँ उत्कीर्ण हैं। जिनालय के निर्माण में राजस्थान के विश्वप्रसिद्ध राणकपुर तीर्थ के मंदिर की स्थापत्य और शिल्प के अनुरूप नक्कासी कोरनी के भव्य कलात्मक कार्य को स्थान दिया गया है। मंदिर का शिखर आबू के दिलवाड़ा मंदिर के समान है। शिखर के पैनल में २४ तीर्थंकर और देवता हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हंस का पैनल भी दर्शनीय है। सम्पूर्ण जिनालय सर्व प्रासाद शैली में निर्मित है। इस शैली की यह विशेषता होती है कि इसमें २४ तीर्थंकरों में से किसी भी तीर्थंकर की प्रतिष्ठा की जा सकती है। मंदिर में तिलक तोरण और कमानिका तोरण भी बने हैं। सभा मण्डप में पंचशाखा द्वार है।

अहमदाबाद के शिल्प विशेषज्ञ श्री भरत भाई सोमपुरा ने अपनी कल्पना को कलाकृति के माध्यम से प्रदर्शित किया है। गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा रंग मंडप के ऊपर सामरण के निर्माण से सम्पूर्ण मंदिर अपनी भव्यता में एक गुलाबी पाषाण की पहाड़ी जैसी दिखती है। शिल्पकारों द्वारा पत्थरों पर की गयी फूल-पत्ती तथा बेल-बूटकारी इतनी मनोहर तथा जीवन्त हैं कि इन्हें एक बार देखने वाला उनके शिल्प सौन्दर्य को विस्मरण कर पाये यह असम्भव है। मंदिर निर्माण में करीब १० वर्ष लगे। २५ फरवरी १९९४ को परम पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय हेमप्रभु सूरीश्वर जी म.सा. की निश्रा में जिनालय की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुयी लेकिन अभी भी सौन्दर्यीकरण के कार्य चल ही रहे हैं।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

स्मृति प्रमाण (प्रमाणमीमांसा के संदर्भ में) एक समीक्षात्मक अध्ययन

भूपेन्द्र शुक्ल

जैन नैयायिकों ने प्रमाण का विभाजन दो रूपों में विशद्‌ता तथा अविशदता के आधार पर किया गया है अर्थात् विशद् या स्पष्टता प्रत्यक्ष प्रमाण है;[1] और जो सम्यक् निर्णय अविशद् हो अर्थात् जिस ज्ञान में 'इदम्' रूप का प्रतिभास न हो अथवा जिसकी उत्पत्ति में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा हो वह परोक्ष प्रमाण कहलाता है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष प्रमाण भी सम्यक् निर्णय रूप होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण विशद् होता है जबकि परोक्ष में प्रमाण में विशदता नहीं होती है। दोनों ही प्रमाणों के स्वरूप में यही अन्तर है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा में परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों–स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह, अनुमान और आगम का उल्लेख किया है।[3]

जैन नैयायिकों ने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को पृथक प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। भारतीय दर्शन के समस्त प्रस्थानों में प्रायः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क या ऊह की चर्चा मिलती है। किन्तु इन्हें पृथक प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करते हैं, जबकि लोक व्यवहार तथा अनुमान की प्रक्रिया में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन दार्शनिकों ने स्मृति को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में स्मृति का उल्लेख किया गया है यथा– मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध।[4] अकलङ्क ने मतिज्ञान के इन पर्यायवाची शब्दों को आधार बनाकर ही क्रमशः, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाणों को स्थापित किया है। 'स्मृति' शब्द से उन्होंने 'स्मृतिप्रमाण', 'संज्ञा' शब्द से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण

---

* *शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं 'चिन्ता' शब्द से तर्क प्रमाण का विकास किया है। अभिनिबोध शब्द से उन्होंने अनुमान प्रमाण का ग्रहण किया है। इसके साथ ही उन्होंने स्मृति को प्रत्यभिज्ञान अनुमान का कारण माना है।[5]

स्मृति को प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले अकलङ्क ने शब्द योजना के पूर्व इसे मतिज्ञान में तथा शब्द योजना के बाद श्रुतज्ञान में सम्मिलित किया है। विद्यानन्द ने तत् (वह) आकार वाले एवं अनुभूत अर्थ के विषय के ज्ञान को स्मृति कहा है।[6] माणिक्यनन्दी के अनुसार संस्कार की जागृति से 'तत्' आकार ज्ञान स्मृति है।[7] संस्कार को जैन दर्शन में धारणा भी कहा गया है। निर्णीत या अनुभूत अर्थ के ज्ञान का दृढ़तापूर्वक गृहीत होना धारणा अथवा संस्कार है। संस्कार से स्मृति का जन्म होता है। इसलिए अकलङ्क ने स्मृति को धारणा प्रमाण का फल कहा है। स्मृति भी प्रमाण है क्योंकि उसका फल प्रत्यभिज्ञान है। बिना स्मृति के प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है। वादिदेवसूरि ने संस्कार की जागृति से उत्पन्न, अनुभूत अर्थ के विषय का ज्ञान कराने वाला, एवं तत् आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने स्मृति के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि–वासना की जागृति जिसमें कारण हो और 'वह' ऐसा जिसका आकार हो, वह ज्ञान स्मृति है।[8] प्रशस्तपाद ने स्मृति को विद्या का एक प्रकार माना है। वे चार प्रकार की विद्याओं का निरूपण करते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्षज्ञान।[9] प्रशस्तपाद ने स्मृति को दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत अर्थों में शेषानुव्यवसाय (अनुमेयज्ञान) इच्छा अनुस्मरण एवं द्वेष का हेतु बतलाया है तथा अतीत के विषयों को ग्रहण करने वाला प्रतिपादित किया है।[10] योगसूत्र में पतञ्जलि ने स्मृति को प्रमाण, विपयर्य, विकल्प एवं निद्रा की भाँति एक चित्तवृत्ति माना है तथा अनुभूत विषय के असम्प्रमोष को स्मृति कहा है। न्याय दर्शन के अनुसार एक ही ज्ञाता पूर्वकाल में ज्ञात विषय का जब पुनः ग्रहण करता है तो वह स्मरण कहलाता है। न्याय दर्शन में स्मरण को आत्मा का गुण कहा गया है;[11] तथा स्मृति की उत्पत्ति में प्राणिधान, निबन्ध, अभ्यास आदि अनेक हेतुओं की गणना की गई है। न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने प्रत्यक्ष ज्ञान का निरोध होने पर उसके विषय का अनुसंधान करने वाले प्रत्यय को स्मृति कहा है। ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य में स्मृति अधिकरण में स्मृति की चर्चा की गई है। सामुदायाधिकरण में शंकर ने वैभाषिक बौद्धों का खण्डन करते हुए द्रष्टा एवं स्मर्ता का एक कर्तृत्व अङ्गीकार किया है।[12]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय संस्कृति में वेदों के अनन्तर स्मृतियों को भी प्रमाण माना गया है। वेदों के लुप्त ज्ञान का प्रतिपादन स्मृतियों द्वारा किया गया है, इसलिए स्मृतियाँ लोक व्यवहार में प्रमाणभूत है तथापि वैदिक दर्शनों में स्मृतियों को एक पृथक प्रमाण के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया है। इस सम्बंध में पं० सुखलालजी संघवी कहते हैं कि वैदिक परम्परा में श्रुति अर्थात् वेद का ही मुख्य प्रामाण्य है तथा स्मृति का प्रामाण्य श्रुति (श्रुतादि) के अधीन है। यही कारण है कि मीमांसा आदि वैदिक दर्शनों में स्मृति ज्ञान को अनुभव या प्रत्यक्ष के अधीन होने के कारण प्रमाण नहीं माना गया है।[13] बौद्ध आचार्य भी स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। दिङ्नाग ने स्मृतिज्ञान को अनवस्था दोष के कारण प्रमाण नहीं माना है। दिङ्नाग का तर्क है कि यदि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाए तो इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा इससे प्रमाण में अनवस्था दोष आ जाता है।[14]

जैन दार्शनिक अकलङ्क एवं उनके अनन्तर विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र वादिदेवसूरि तथा आचार्य हेमचन्द्र ने स्मृतिज्ञान को पृथक ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अकलङ्क का मानना है कि स्मृति प्रमाण है क्योंकि वह अविसंवादी है। प्रत्यक्ष भी अविसंवादी होने से प्रमाण है, अर्थाकार होने से नहीं। यदि प्रत्यक्ष को अर्थाकार होने से प्रमाण माना जाएगा तो व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष का ग्राह्य एवं प्राप्य अर्थ भिन्न होता है। उसके द्वारा अर्थ क्रिया में विसंवाद उत्पन्न नहीं होता अतः उसे भी प्रत्यक्ष की भाँति प्रमाण मानना चाहिए। जब स्मृति विसंवादयुक्त होती है तो वह अप्रमाण या प्रमाणाभास कही जाती है।[15] विद्यानन्द स्मृति को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं कि स्मृति को अप्रमाण मानने पर प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता शक्य नहीं है। प्रत्यभिज्ञान के अप्रमाण होने पर तर्क की व्यवस्था नहीं होती। तर्क के प्रतिष्ठित होने पर अनुमान की प्रवृत्ति अशक्य है। अनुमान में प्रवृत्त होने पर प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अवस्थित नहीं रहता है। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के शून्य होने पर प्रमेय भी शून्य हो जाता है अर्थात् स्मृति को अप्रमाण मानने पर समस्त प्रमाणों एवं प्रमेयों के अभाव का प्रसंङ्ग आता है, किन्तु यह शून्यवाद भी बिना प्रमाण के सिद्ध नहीं होता। अतः स्मृति को प्रमाण मानना चाहिए।[16] प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि ने भी स्मृति ज्ञान को विविध प्रकार से प्रमाण सिद्ध किया है तथा बौद्धों आदि की आशंकाओं का निवारण किया है। गृहीत अर्थ के अधिगममात्र से स्मृति को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है जैसा कि विरोधियों का मानना है। अनुमान के द्वारा गृहीत अग्नि का उत्तरकाल में प्रत्यक्ष होने पर उसे भी अप्रमाण नहीं माना जाता है। यदि अधिगत अर्थ का अधिगम करने पर भी प्रत्यक्ष के द्वारा अर्थांश का ज्ञान होना सम्भव है अतः वह प्रमाण है, तो स्मृति को भी इस आधार पर अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी वर्तमान काल में ज्ञात अर्थ का अतीत काल के रूप में ज्ञान कराने से अपूर्व अर्थांश का ज्ञान कराती है, अतः वह भी प्रमाण है। संक्षेप में कहें तो स्मृति प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ का भी वह किसी अंश से अपूर्व अर्थ के रूप में ज्ञान कराती है। वादिदेवसूरि ने गृहीतग्राही स्मृति ज्ञान को भी पर व्यवसायी एवं अविसंवादक होने से प्रमाण माना है। अविद्यमान अतीत अर्थ में प्रवर्तक होने से स्मृति को अप्रमाण मानना उचित नहीं है। स्वकाल में भी स्मृति विद्यमान रहती ही है, स्मृतिकाल में भी स्मृति को ग्राह्य अर्थ की अप्रमाणता नहीं है। स्मृति ज्ञान का प्रामाण्य तो उसकी अविसंवादिता से है तथा अपने विषय की प्रकाशता से है।[17] आचार्य हेमचन्द्र का मानना है कि यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाए तो अनुमान को अप्रमाण मानना पड़ेगा। सभी वादी यह स्वीकार करते हैं कि लिङ्ग एवं लिङ्गी के सम्बन्ध से स्मरणपूर्वक अनुमान होता है। अतः अनुमान का होना स्मरण पर आश्रित है। इस कारण स्मरण को प्रमाण माने बिना अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।[18] इस प्रकार अकलङ्क, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि और आचार्य हेमचन्द्र आदि जैनाचार्यों ने स्मृतिज्ञान को अविसंवादक, समारोष का व्यवच्छेद एवं कथञ्चित अगृहीत अर्थ का ग्राहक स्वीकार किया है। वे उसे प्रत्यक्ष की भाँति ही मानते हैं। स्मृति प्रयोजन भूत है उसके बिना अनुमान संभव नहीं है। यह परिच्छतिविशेष का प्रतिपादक है। इसलिए भी वह प्रत्यक्ष प्रमाण की भाँति प्रमाण है।

आचार्य हेमचन्द्र तथा वादिदेवसूरि ने स्मृति को गृहीतग्राही होने पर प्रमाण माना है।[19] आचार्य हेमचन्द्र ने तो स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध करते हुए जयन्तभट्ट के इस मत का भी उल्लेख किया है कि गृहीतग्राही होने से स्मृति का अप्रमाण्य नहीं है, अपितु अर्थ से उत्पन्न होने के कारण इसका अप्रमाण्य है। हेमचन्द्र इसका उत्तर देते हुए बौद्ध तथा नैयायिकों से कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक अपनी सामग्री (तेल, वाती आदि) से उत्पन्न होकर तथा घटादि से अनुत्पन्न रहकर भी घटादि को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा इन्द्रिय एवं मन के बल से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पन्न स्मृति ज्ञान भी विषय का अवभासक होता है। प्रमाण को अर्थजन्य मानने पर मरुमरीचिका आदि से जलज्ञान भी अर्थजन्य होने से प्रमाण माना जाने लगेगा। इसलिए स्मृति अर्थजन्य होने पर भी प्रमाण है। योगिज्ञान भी अतीत एवं अनागत अर्थ को विषय करता है, किन्तु वह अर्थ से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी उसे प्रमाण माना जाता है।[20]

स्मृति ज्ञान का प्रामाण्य तो उसकी अविसंवादिता से है तथा अपने विषय की प्रकाशता से है।[21] हेमचन्द्र का मानना है कि यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाय तो अनुमान को भी तिलाञ्जलि देनी होगी अर्थात् उसे भी अप्रामाण्य मानना होगा। सभी वादी यह स्वीकार करते हैं कि लिङ्ग एवं लिङ्गी के सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक अनुमान होता है। अतः अनुमान का होना स्मरण पर आश्रित है। इसलिए स्मरण को प्रमाण माने बिना अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता है।[22]

समीक्षा– स्मृति को परोक्ष–प्रमाण के भेदों में एक पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित कर जैन दार्शनिकों ने 'प्रामाण्यं व्यवहारेण'[23] सिद्धान्त को चरितार्थ किया है। यह सिद्धान्त यद्यपि बौद्ध दार्शनिकों ने दिया है तथापि (1) असत् अर्थ को विषय करने के कारण (2) अर्थ से अनुत्पन्न होने के कारण (3) अनवस्था दोष की प्रसक्ति होने के कारण (4) विसंवादक होने के कारण (5) अर्थाकार नहीं होने के कारण स्मृति ज्ञान को उन्होंने नहीं माना है, किन्तु लौकिक व्यवहार या अर्थक्रिया में प्रवर्तक को लेकर विचार किया जाए तो स्मृति ज्ञान के प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमारा समस्त व्यावहारिक ज्ञान स्मृति पर आधारित है। भाषा का प्रयोग, लेन–देन का समस्त व्यवहार, पूर्वदृष्ट या ज्ञात वस्तु का प्रत्यभिज्ञान स्मृति के बिना नहीं हो सकता। स्मृति के अभाव में व्यक्ति किसी निश्चित कार्य के लिए निश्चित समय पर प्रवृत्त भी नहीं हो सकता। यदि हमें शब्द एवं अर्थ के संकेत का स्मरण नहीं हो तो हम समुचित भाषा का प्रयोग करने में भी सक्षम नहीं हो सकते। यही नहीं घर, परिवार पिता–पुत्र आदि को पहचानने से इनकार कर सकते हैं। इसलिए व्यवहार में स्मृतिज्ञान प्रमाण है।

बौद्ध दार्शनिकों का मानना है कि स्मृति को प्रमाण मानने पर इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा, किन्तु जैन मतानुसार इच्छा द्वेष आदि अप्रमाण है; क्योंकि वे अविसंवादक एवं ज्ञानात्मक नहीं है। स्मृति अविसंवादक ज्ञान है। जैन दार्शनिकों ने प्रमाण को ज्ञानात्मक माना है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः वे इच्छा, द्वेष आदि का प्रामाण्य अंगीकार नहीं करते हैं। स्मृति को जैन दार्शनिकों ने उसी प्रकार प्रमाण माना है, जिस प्रकार वे प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। प्रमाण का सामान्य लक्षण दोनों में समान रूप से घटित होता है।

स्मृति की उपादेयता न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि दर्शन भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि इसके बिना व्याप्तिज्ञान एवं अनुमान नहीं हो सकता, फिर भी वे स्वतंत्र रूप से ज्ञान का प्रतिपादक नहीं होने के कारण अथवा प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों द्वारा गृहीत अर्थ का ग्राही होने के कारण प्रमाण नहीं मानते हैं। जयन्त भट्ट ने उसे अनर्थजन्यता के कारण प्रमाण नहीं माना है।

स्मृति ज्ञान को प्रमाण मानने का यह अर्थ नहीं है कि जैनमत में सभी स्मृतियां प्रमाण हैं। जैन दार्शनिक उन्हीं स्मृतियों को प्रमाण मानते हैं, जो अविसंवादक हों, व्यवहार में उपयोगी हों, स्व एवं अर्थ की निश्चायक हों, तथा जिनका फल प्रत्यभिज्ञान हो। अकलङ्क ने यद्यपि स्मृति का प्रामाण्य, स्मृति की प्रतिपत्ति से ही माना है, किन्तु स्मृति को सबको अनुभूति होने के पश्चात् भी स्मृति के यथाभूत अर्थ का ज्ञान कराने में अनेक बार विसंवादकता देखी जाती है। उस विसंवादकता का निराकरण स्मृति द्वारा सम्भव नहीं है। स्मृति तो संस्कार के अनुरूप होता है। पहले प्रत्यक्ष प्रमाण से जिस अर्थ का ज्ञान हुआ है, संस्कार यदि सुदृढ़ या सम्यक् नहीं है, अथवा दीर्घकालिक व्यवधान के कारण संस्कार धूमिल हो गया है तो स्मृति–ज्ञान संवादक या सम्यक् नहीं हो सकता। स्मृति अपने आप में अपनी संवादकता का निर्णय करने में समर्थ नहीं हो सकती। स्मृति की संवादकता का ज्ञान प्रत्यक्ष या प्रत्यभिज्ञान द्वारा होना सम्भव है।

स्मृति को वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्षादि ज्ञानों के परतन्त्र होने से पृथक प्रमाण नहीं माना गया, किन्तु परतन्त्रता तो अनुमान में भी रहती है। अनुमान भी पूर्व प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात लिङ्ग–लिङ्गी ज्ञान पर आश्रित होता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि लिङ्ग एवं लिङ्गी की स्मृति के बिना अनुमान प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए स्मृति को प्रमाण स्वीकार किये बिना अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। ऐसा कोई दार्शनिक नहीं हो सकता जो स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार किये बिना लिङ्ग द्वारा लिङ्गी का ज्ञान कर सके। यह आवश्यक है कि स्मृति के समय प्रमाता के समक्ष अर्थ विद्यमान नहीं रहता एवं स्मृति प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात अर्थ में वैशिष्ट्य भी नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाती, किन्तु स्मृति को स्व एवं अर्थ का प्रकाशक होने से, अर्थक्रिया में प्रवर्तक होने से, अविसंवादक व्यवहार का कारण होने से तथा व्यवसायात्मक ज्ञानरूप होने से प्रमाण माना जा सकता है। यद्यपि अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि दिगम्बर जैन दार्शनिकों ने काल–भेद से स्मृति को कथञ्चित् अपूर्व अर्थ का ग्राही प्रतिपादित किया है किन्तु वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र आदि श्वेताम्बर जैन दार्शनिक स्मृति को गृहीतग्राही होने पर भी उसे प्रमाण स्वीकार करते हैं। वस्तुतः स्मृति का प्रामाण्य प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत अर्थ का तथाभूत ज्ञान कराने में ही उचित प्रतीत होता है, नवीन या अपूर्व अर्थांश के ज्ञान की दृष्टि से स्मृति को प्रमाण मानना हमारे दैनिक व्यवहार में भी अव्यवस्था उत्पन्न कर सकता है। स्मृति ज्ञान में अविसंवादकता भी तभी घटित हो सकती है, जब वह प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात अर्थ का तथाभूत ज्ञान करा सके।

संदर्भ सूची

१. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, विशदः प्रत्यक्षम्। १.१३७१

२. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, अविशदः परोक्षम्। १.२.१

३. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र– स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमस्तद्विधयः। १.२.२।

४. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, १.१३
मतिः स्मृतिः संज्ञा, चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

५. लघीयस्त्रयवृत्ति– अकलंक , पृ० ५
स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य (प्रत्यभिज्ञानस्य)
संज्ञा चिन्तयाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादः।।

६. प्रमाणपरीक्षा, विद्यानन्द, पृ० ४२
तदित्याकारानुभूतार्थविषयां स्मृतिः।

७. परीक्षामुख–माणिक्यनन्दी, ३.३
"संस्कारादबोधनिबन्धाना तदित्याकारा स्मृति।"

८. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र १.२.३
वासनोद्ववोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः।

६. वैशेषिकसूत्र–कणाद, ६.२.६
आत्मनः संयोग विशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः।

१०. योगसूत्र, पतञ्जलि– १.६.११
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृति।

११. न्यायसूत्र, गौतम– ३.२.४०
स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वामान्यात्।

१२. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य– २.२.२५

१३. प्रमाणमीमांसा, भाषा टिप्पणी, पं० सुखलाल जी संघवी, पृ० ७३

१४. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, दिङ्नाग, पृ० ११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यदि सर्वेषां ज्ञाननां प्रमाणत्वमिष्यते प्रमाणानवस्था प्रसज्यते।"

१५. सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, अकलंक , १.६, पृ० ३८
"न हि तयाऽर्थ परिच्छिद्य अर्थक्रियायां विसंवाद्यते।"

१६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, विद्यानन्द, १.१३.६ से ११
स्मृते प्रमाणताऽपाये संज्ञायाः न प्रमाणता। तद्प्रमाणतायां तु चिन्ता न व्यवष्ठिते।।
तद् प्रतिष्ठितौ क्वानुमानंनाम प्रवर्तते। तद्प्रवर्तनेऽध्यक्षप्रमाण्यं नावतिष्ठते।।
ततः प्रमाण शून्यत्वात्प्रमेयस्यापि शून्यता।।"

१७. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, पृ० ७७

१८. प्रमाणमीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, १.२.३ की वृत्ति, पृ० ७७

१९. प्रमाणमीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, १.२.४
ग्रहीष्यमाणग्रहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपिनाऽप्रामाण्यम्।

२०. प्रमाणमीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, पृ० ३४

२१. प्रमाणमीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, पृ० ३३

२२. प्रमाणमीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, पृ० ३४

२३. प्रमाणवार्तिक, १०७
"न हि तयाऽर्थ परिच्छिद्य अर्थक्रियायां विसंवाद्यते।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

English Section

- *Dravya, Guṇa and Paryāya in Jaina Thought*
- *Environmental Aspect of Non-violence*
- *Philosophical Interpretations of Religion*
- *Buddhists Ethics and its Contemporary Relevance*
- *Anekāntavāda : A Way Towards World Peace*
- *The Jaina Tantric Yantras*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Śramana, Vol. 57, No. 3-4
July-December 2006

DRAVYA, GUṆA AND PARYĀYA IN JAINA THOUGHT

Jayendra Soni *

It is generally agreed that the introduction of the term *guṇa* (quality) is relatively later than the terms *dravya* (substance) and *paryāya* (mode or modification) when philosophically discussing the state in which a *dravya* is in a particular moment of its existence.[1] *Paryāya* seems to have been used loosely and in a broad sense to include what later was distinguished as the *guṇa* of a thing.[2] When and why exactly the term *guṇa* was specifically introduced is difficult to assess conclusively but there is no doubt that the term was clearly distinguished from *paryāya* at least by the time of Kundakunda and Umāsvāti[3] who specifically deal with all three terms in their works. One suggestion, however, is that this "seems to be a later innovation due to the influence which the philosophy and terminology of Nyāya-Vaiśeṣika gradually gained over the scientific thoughts of the Hindus"[4] and another that it "must have come about from the spontaneous perception of an obvious gap in the ontological picture of *dravya*"[5]. The following observation is also noteworthy in this context :

> *Guṇas* are a quite usual feature of the Vaiśeṣika system; the notion of *paryāya* is peculiarly Jaina, though seen in its popular sense in later Nyāya works. In early Jaina works, like those of Kundakunda... the notion of *guṇas* is very simple; *guṇas* stand ... for the essential differentia of a thing; but in many later works the doctrine has been much more elaborated, possibly after the manner of the Vaiśeṣika system.[6]

* University of Marburg Germany.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Although the real reason for the use of the term *guṇa* may be a matter of speculation, it is nonetheless quite likely that its introduction is due to both the reason given above, viz., for the purposes of philosophical detail and clarification, as well due to the influence of Nyāya-Vaiśeṣika terminology in the context of Indian thought as a whole. This paper attempts to deal with the categories of *dravya, guṇa* and *paryāya* as they are used in selected texts in order to see how the Jaina tradition, and particularly Kundakunda, dealt with them.

Kundakunda's starting point in the discussion on *dravya, guṇa* and *paryāya* may be said to be related to the question concerning what constitutes the objects of knowledge, which is the subject matter of the second chapter entitled *jñeyatattvādhikāra* of his *Pravacanasāra.* In introducing this topic the commentator Amṛtacandra says that Kundakunda "properly explains in it the essential nature of *dravya, guṇa* and *paryāya* of a *padārtha*".[7] In common Jaina parlance *padārtha* is a synonym for *tattva* and refers to the seven basic truths or fundamental verities, which form the basis of Jaina metaphysics.[8] Only the first two *tattvas* are also called *dravyas,* namely entities or substances that exist eternally and throughout maintain their *dravyatva* (substantiality). In the very first *gāthā* of this section Kundakunda introduces the theme, which makes up the subject matter of most of the section, his statement is quite clearly made;

arthaḥ khalu dravyamayao dravyāṇi guṇātmakāni bhaṇitāni/

taistu punaḥ paryāyāḥ..., Pravacanasāra (PrS)Ṭīkā II, 1.

The object of knowledge is made up of substances, which are said to be characterized by qualities, and with which, moreover, are (associated) the modifications.

Thus it is clear that Kundakunda recognizes the categories *dravya, guṇa* and *paryāya.* By way of giving a definition of *dravya* he says :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

aparityakta-svabhāvenotpāda-vyaya-dhruvatva-saṃyuktam/
guṇavacca sa-paryāya yattadravyamiti bruvanti//PrS Ṭīkā II, 3

That is called a substance which is endowed with qualities and accompanied by modifications and which is coupled with origination, destruction and permanence without leaving its nature (of existence).[9]

This *gāthā* is a summary statement of three characteristics of *dravya,* namely, that it is inextricably associated with *guṇa* and *paryāya,* that it retains its *dravyatva* despite the changes it apparently undergoes and, thereby, that it is existent or that it exists. The inseparability of these three terms is explicitly stated in PrS *Ṭīkā* II, 18; *Nāsti guṇa iti vā kaścit paryāya itīha yā vinā dravyam,* "There is nothing as a quality nor as a modification in the absence of a substance." That they are nonetheless distinct aspects is clearly asserted when Kundakunda says (PrS *Ṭīkā* ii, 16) :

yaddravyaṁ tanna guṇo yo'pi guṇaḥ sa na tattvamarthāt /
eṣa hyatadbhāvo naiva abhāva iti nirdiṣṭaḥ//

"Really speaking what is substance is not quality, nor what is quality is substance; this is a case of non-identity and not of absolute negation". Although *paryāya* is not mentioned here specifically it may be assumed that it is also a distinct aspect that applies in the context under discussion here. It is significant to note also that the distinctness of the terms does not imply that they are exclusive of each other; hence one can speak of them as being inseparable.

The fundamental category that is the basis of the discussion at hand is *dravya* and what this category entails is stated in PrS *Ṭīkā* II, 35;

dravyaṃ jāvo'jvo jīvaḥ punaś-cetanopayoga-mayaḥ/
pudgala-dravya-pramukho'cetano bhavati cā-ajīvaḥ//

Substance comprises *jīva,* the sentient principle, and *ajīva,*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the non-sentient principle; *jīva* is constituted of sentiency and manifestation of consciousness; *ajīva* is insentient, and the foremost of this class is matter.[10]

The classification of *dravya* into two kinds, *jīva* and *ajīva* is a basic tenet of Jaina ontology. Moreover, *ajīva* is a general term under which five further *dravyas* are referred to : *pudgala, dharma, adharma, ākāśa* and *kāla.* Since *jīva* is the only sentient principle among the *dravyas,* it alone can 'know' the others. Kundakunda specifically mentions *pudgala* as the foremost among the *ajīva-dravyas,* indicating perhaps that it deserves to be noted in connection with *guṇa* and *paryāya.* In any case, *pudgala-dravya* features as one of the most important ontological categories insofar as it is *pudgala* that becomes transformed into *karman* which hinders, restricts or distorts the manifestation or operation (*upayoga)* of consciousness intrinsic to the nature o *jīva.* One can ask in this context whether there is an implicit distinction between the intrinsic or essential nature (*svabhāva)* of a *dravya* and its *guṇa* (and *paryāya).* This point will be taken up below.

The question of the permanent and eternal existence of *dravya* is of fundamental significance to its essential nature, despite its apparent change and destruction. In fact, origination, permanence and destruction of a particular *dravya* can only take place in the context of a particular *dravya* itself, paradoxical as this may sound. In Kundakunda's own words :

na bhavo bhaṅga-hīno bhaṅgo vā nāsti saṁbhava-vihīnaḥ/
utpādo'pi ca bhaṅgo na vinā dhrauvyeṇā-artheṇa //

PrS *Ṭīkā II, 8*

There can be no origination without destruction, nor is there destruction without origination; origination and destruction are not possible in the absence of permanent substantiality.

The key to understanding the occurrence of change on the basis of substantiality is the recognition of the distinction between *paryāya* and *dravya,* which together with *guṇa* are inextricablv

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

linked together, as seen above. In other words, the *paryāya* of a *dravya* (which functions as a substrate for modifications) in no way alters the *dravyatva* of a *dravya* - destruction, permanence and origination have to be seen as *paryāyas* which occur within a *dravya.* This seems to be the import of Kundakunda's statement when he says :

utpāda-sthiti-bhaṅgā vidyante paryāyeṣu paryāyāḥ/
dravyaṃ hi santi niyataṃ tasmād-dravyaṃ bhavati sarvam//
PrS *Ṭīkā* II, 9

Origination, permanence and destruction take place in modifications; modifications are (possible) necessarily in a substance, therefore, the substance forms the base of them all.

This point raises questions about the relation and interrelation between *dravya* and *paryāya.* In Kundakunda's words :

svabhāve dravyaṃ dravya-artha-paryāya-arthābhyām/
sad-asad-bhāva-nibaddhaṃ prādurbhāvaṃ sadā labhate//
PrSṬīkā II, 19

The substance forever retains its position its own nature, as endowed with positive and negative conditions according to as it is looked at from the substantial and the modificational viewpoints.[11]

Two *gāthās,* PrS *Ṭīkā* II, 22-23, elaborate this point which rests on the famous *nayavāda,* the theory of perspectives which has become the hallmark of Jainism :

dravyārthikena sarvaṃ dravyaṃ tat-paryāyārthikena punaḥ/
bhavati ca-anyad-ananyat tat-kāle tan-mayatvāt//
asti-iti ca nāsti-iti ca bhavatyavaktavyam-iti punardravyam/
paryāyeṇa tu kena-api tad-ubhayam-ādiṣṭam-anyadvā//

All substances are non-different from the substantial viewpoint, but again they are different from the modificational view-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

point, because of the individual modification pervading it for the time being.

According to some modification or the other it is stated that a substance exists, does not exist, is indescribable, is both or otherwise.

The distinction between *dravya* and *paryāya* depends on the standpoint from which one approaches the question and although Kundakunda refers only to these two categories one has to keep in mind PrS II, 3 above where it is clearly stated that *guṇa* too is inextricably associated with *dravya. Guṇa* is perhaps to be understood as an intermediary category which gives a substance the quality that enables it to become modified without the loose of substantiality. Thus, the perspective from which one approaches the subject is particularly important so as not to make Kundakunda's fine distinction found absurd or contradictory. In characterising a thing one has to grant that if it can change its form then its substantiality is not in any way diminished, since what it changes into is also described as being a substance essentially identical with the 'original' substance. When one, on the other hand, considers a substance only from the standpoint of the modifications, it undergoes then there can be total difference between its different states, i.e., before and after the modification. The theory of perspectives, *nayavāda,* with its corollary *syādvāda* or *saptabhaṅgī-naya,* is a highly developed theory in Jainism through which an absolutistic position is sought to be logically avoided. Kundakunda does not deal with this theory in detail here but he acknowledges its validity only by pointing out that a substance can be said to change or not, depending on the standpoint from which such statements are made.

The notion of *guṇa* is described as a characteristic sign or mark (*liṅga)* of a *dravya :* "The characteristics by which the sentient and non-sentient substances are recognised are known as the special qualities called *mūrta* and *amūrta,* concrete and non-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

concrete''.

liṅgair yair dravyaṁ jīvo'jivaś-ca bhavati vijñātam /

te'tad-bhāvaviśiṣṭā mūrta-amūrtā guṇā jñeyā // Prs. ṬīkāII, 38).

This *gāthā* gives the impression that the *liṅga* of a *dravya* is synonymous with its *guṇa,* even though it is described as a *viśiṣṭa-guṇa.* Unfortunately Kundakunda does not clearly distinguish these two in the context of *dravya* and the question remains whether, on the other hand, *liṅga* and *paryāya* are identical.[12]

In *gāthās* II, 40-42 the two forms of *guṇa* given above are described. The classification of *guṇa* into *mūrta* and *amūrta* types does not depend on whether the *dravya* is *jīva* or *ajīva* (sentience alone is the criterion for this division) but rather on whether they are empirical, i.e., *pudgala* or not. The *mūrta-guṇas* are enumerated in II, 40; ''Colour taste, smell and touch are found in matter from the finer molecules to the gross earth; and sound is material and of various kinds''.

varṇa-rasa-gandha-sparśā vidyante pudgalasya sūkṣmatvāt/

pṛthivī-paryantasya ca śabdaḥ sa pudgalaś-citraḥ //

PrS *Ṭīkā* II, 40.

The *amūrta-guṇas* are given in the next two *gāthās* : ''The peculiar property of *Ākāśa* is to give room; of the *Dharma*-substance, to be a cause of movement; of *Adharma,* to be a cause of stationariness; of *Kāla,* to mark the continuity; of soul, the manifestation of consciousness; these are to be known, in short, the peculiar characteristics of non-concrete substances''

ākāśasya-avagāho dharma-dravyasya gamana-hetutvam/

dharmetaradravyasya tu guṇaḥ punaḥ sthāna-kāraṇatā //

kālasya vartanā syāt guṇa upayoga iti ātmano bhaṇitaḥ /

jñeyā saṅkṣepād guṇā hi mūrti-prahīṇānām // PrS II, 41-42).[13]

The concept of *dravya* as represented by Kundakunda is in

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

keeping with the consistent Jaina attempt to avoid an absolutistic stand : a *dravya* is a permanently existing reality insofar as it cannot be destroyed. However, it is not like an Advaitin's eternally existing *brahman* or *ātman* insofar as, in the Jaina view, a *dravya* is also said to undergo change, as seen above. On the other hand, the change that a *dravya* is capable of undergoing is also not absolutised and from this standpoint the Jaina view avoids the Buddhist notion of eternal change embodied in *Kṣaṇikavāda*. Upadhye summarizes the Jaina view of substance succinctly and compares it with the Nyāya view : "The substances are not immutable but subjected to constant changes in their qualities and modifications with which they are endowed. A substance divested of qualities and modifications is merely an abstraction, simply a void, and as such is not accepted in Jainism. The Nyāya school, however, accepts that the substances, just at the moment of their creation, are devoid of qualities which come to be intimately related with them only later. Substance is the substratum of qualities and modifications; and the intelligibility of a substance depends on its qualities and modifications, because they are its determinants. The relation between these three is that of non-separateness because they subsist in the same spatial existence, and of non-identity because one is not the other".[14]

By virtue of its intrinsic nature a substance (*dravya)* possesses a quality (*guṇa)* which expresses itself in a particular mode (*paryāya*). It is in this sense that the permanent substance can change. The Jainas do not take the further step and talk of a substance per se. This would be unintelligible in an absolute sense. Besides, how can one talk of a substance without at the same time referring to the qualities and modes through which one recognizes it? Further, no outside intervention needs to be acknowledged to account for a substance taking on a particular mode- it can change by virtue of its intrinsic nature to be able to do so.

The question of the intrinsic nature or *svabhāva* of a *dravya*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

takes on a particular significance in the context of *jīva-dravya,* which is the only sentient principle in Jaina ontology. It was asked above whether there is an implicit distinction between the *svabhāva* of a *dravya* and its *guṇa* and *paryāya.* Two *gāthās* need to be quoted here in order to give the context in which Kundakunda uses the term *svabhāva,* before proceeding with the discussion in the context of *jīva-dravya :*

jāyate naiva na naśyati kṣaṇa-bhaṅgasamudbhave jane kaścit /
yo hi bhavaḥ sa vilayaḥ saṁbhavavilayāviti tau nānā //

'In this world, in which modifications originate and pass away at every moment, nothing is absolutely produced or destroyed; what is production of one modification is the destruction of another; and thus origination and destruction are different''.

tasmāttu nāsti kaścit svabhāva-samavasthita iti saṃsāre /
saṃsāraḥ punaḥ kriyā sasārato dravyasya //

''In this world, therefore, there is nothing as such absolutely established in its nature; after all mundane existence is (only) an activity of the soul-substance which is moving (in four grades of existence)'' (PrS *Ṭīkā* II, 27-28).

The crucial statement here is that in the world ''there is nothing as such which is absolutely established in its nature''. In the context of the point under discussion it means that the *jīva* can never be *as itself* because if it is in the world it is always tainted by *karman.* Kundakunda's description of the *jīva* is :

arasam arūpam agandham avyaktaṁ cetanā-aguṇamaśabdam /
jānīhy-aliṅga-grahaṇaṁ jāvam anirdiṣṭa-saṃsthānam //

'' Know that the (pure) soul is without (the qualities of) taste, colour, smell, touch and sound; it is sentient; it is beyond inferential mark; and it has no definite shape'' (PrS II, 80). This obviously refers to the *svabhāva* of *jīva* although the *gāthā* does not explicitly state it. The distinction then between the *svabhāva* of a *dravya* and its *guṇa* and *paryāya* seems to be that the *svabhāva* of a *dravya*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

serves as a definition, i.e., it gives the exact meaning which may be applied to a *dravya,* it says what it is. *Guṇa* and *paryāya,* on the other hand, explain how it is possible to account for the change a *dravya* may undergo without losing its essential nature, its *svabhāva*- without knowing the *svabhāva* the significance of *guṇa* and *paryāya* to account for the change in a *dravya* would be reduced. Further, *svabhāva* can stand alone whereas *guṇa* and *paryāya* mutually refer to each other.

The *gāthā* quoted above raises a problem : if, as it says, the *jīva* is without a *liṅga,* then it seems to contradict what was stated in PrS II, 38 above (p. 79), viz, that *liṅga* is the special *guṇa* through which *jīva* and *ajīva dravyas* are recognized.

This apparent contradiction can perhaps be obviated by clarifying the standpoint from which these statements are made : recognition is a faculty that takes place in the world, i.e., it is a manifestation of sentience albeit under the influence of matter, since *jīva* is under the influence of *pudgala-dravya* transformed as *karman* which has the effect of restricting the manifestation of the intrinsic nature of the *jīva.* It is in this sense that the *jīva* can be understood as not being established in its nature. The intrinsic nature of the *jīva* can only be grasped when the *karman* veiling its authentic manifestation has been cleared. However, even under the influence of *karman* sentience *(Jīvatva),* is manifested and the operation of consciousness in the form, e.g., of recognition, is a sign of its existence. Hence, on the one hand, the *jīva* is recognized in the world through its characteristic signs of sentience and, on the other hand, in the realm without the influence of *karman*, i.e., in the realm where the *ajīva-dravyas* no longer hinder the manifestation of consciousness, *jīva* must be spoken of as a *dravya* which cannot be recognized through characteristic signs or *liṅgas* which apply to the realm associated with *ajīva.*

The Jaina scriptures enumerate two operations (*upayogas*) which are described as two distinct *guṇas* of the *jīva,* and these

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

are called *darśana* and *jñāna.* A full discussion of *upayogas* in Jainism and the different views concerning them can be the subject matter of a detailed study in itself. Only some important points will be touched upon here. *Darśana* is described as indeterminate intuition (*nirākāra upayoga)* and *jñāna* as determinate knowledge (*sākāra upayoga).* "The two operate always in succession (*krama),* with *darśana* first, for all acts of cognition in the mundane state".[15] The question which has transformed this point into a problem is whether *darśana* and *jñāna* maintain their distinctness in the state of omniscience. In other words, how is the unity of *jīva-dravya* to be understood when the *jīva* has attained its perfected and natural state? It is interesting to briefly compare Kundakunda's view with that of Siddhasena Divākara whose standpoint to the problem is evidently quite different.

Kundakunda, as seen above, accepts the *bhedavāda* view, viz., that the *guṇa* and *paryāya* of a *dravya* are distinct entities. Further, *guṇa* is embedded in a *dravya* and it is called *sahabhāvī,* intrinsic to and acknowledged simultaneously with a *dravya.* A *paryāya* is a feature manifesting itself in a *dravya* for a time and changing into another *paryāya* at some other time. In this sense *paryāya* is a relatively extrinsic feature and is called *kramabhāvī* or successive. *Jñāna* and *darśana* are *guṇas* of the *jīva* and in the perfect state of omniscience these must also function as separate operations without the *jīva* losing its identity. But if, as state above, *darśana* and *jñāna* operate successively, then it would mean that the omniscient one (by which is meant the Jina) would always be deprived of one or the other of these qualities, even though both qualities are in a perfected, unhindered condition. Kundakunda's solution to the problem is that although these operations function successively in the mundane or *vyāvahārika* state, in the state of omniscience they operate simultaneously (*yugapat*). Kundakunda's *bhedavāda* is generally supported by Umāsvāti, Pūjyapāda and Vidyānanda and represents the Digambara view on the matter.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Siddhasena Divākara (c. 500 A.D.), on the other hand, in his *Sanmatitarkaprakaraṇa* (III, 8-14), maintains the *abhedavāda* view, viz., that the *guṇa* and *paryāya* of a *dravya* are not different because they are synonyms (*tulyārtha).* Either of these terms may be employed when referring to the change a *dravya* undergoes and in III, 10 he relies on *śruti* for his standpoint. He says that scripture refers only to *dravyārthika-naya* and *paryāyārthika-naya* and that Lord Mahāvīra does not mention *guṇārthika-naya* as a separate feature associated with a *dravya.* This means that *guṇa* has to be understood in the sense of *paryāya.* Further, there is no need to consider *guṇa* as a separate aspect that has an independent status because when one speaks of a *dravya* the qualities or *guṇas* are automatically included. In the state of omniscience, then, *darśana* and *jñāna* are not separate operations, they are no longer the distinct features they were in the mundane realm. In other words, they are qualities intrinsic to *jīva* and when it achieves omniscience the *jīva* abides in itself in a perfected state.

Upadhye[16] thinks that Siddhasena Divārkara's standpoint is apparently directed against the Nyāya-Vaiśeṣika and includes Jaina authors like Kundakunda and Umāsvāti only in the context of *dravya* and *paryāya.* He thinks that Siddhasena has confused the Nyāya-Vaiśeṣika and Kundakunda positions. He evidently supports Kundakunda and so tries to explain away Siddhasena's objections. His arguments distinguishing Kundakunda's position with regard to *guṇa* from that of Nyāya-Vaiśeṣika may be mentioned here in order to understand better the Jaina view. According to Kundakunda a *guṇa* is a essential differentia of a substance (*dravya)* and a substance without a *guṇa* has no existence; the relation between *guṇa* and *dravya* is that of difference-in-congruency. According to the Nyāya school, however, a substance in the first moment of its creation is without qualities, and only in the next moment does it come to be intimately united with them. Secondly, many of the Nyāya-Vaiśeṣika *guṇas* like *śabda,* etc. are

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

no more *guṇas* according to Jainism, but merely forms of matter. Lastly, the qualitative difference in atoms corresponding to air, fire, water and earth as accepted by Vaiśeṣika is not possible according to Jainism.

After distinguishing the two views Upadhye goes on to clarify Kundakunda's position and to consider Siddhasena's view. He first illustrates Kundakunda's distinction between *guṇa* and *paryāya* : if one considers a golden pot and an earthen pot, then the *paryāya*, pot, is the same but the *guṇas* or qualities of gold and earth are not the same. Moreover, if one considers a golden ring and a golden bangle then the qualities with the substratum gold are the same but the *paryāyas* are different. Siddhasena's argument against this is that if the *guṇa* and *paryāya* of a *dravya* are indeed different then why do the scriptures not mention *guṇārthika-naya ?* By way of answering this objection Upadhye gives a lucid summary of the problem at hand.

He says : the *paryāya* is an external imposition, it may be of manifold kinds, the same *paryāya* may be possible on different substance-grounds, the same substance may be subjected to different *paryāyas* at different times; and, the *paryāya* is not essentially inherent in the very nature of the substance (in the sense in which a *guṇa* is). The only relation between a *dravya* and a *paryāya* is that a *dravya* cannot be imagined without one or the other *paryāya*. *Paryāya* stands for the fluctuating aspect of substances and qualities and requires to be stated when anything about a substance is to be said, hence, the necessity of *paryāyārthika-naya.* As distinguished from this, the *dravyārthika-naya* is directed not towards the fluctuating aspect of a thing but to the permanent aspect of it, namely to the substance with qualities. A *guṇa* cannot be perceived anywhere else than in a substance, and a substance cannot be conceived without a *guṇa.* Since the *guṇas* are embedded in and coeval with a substance there is not need for a *gunārthika-naya.* This would be necessary, Upadhye points out, if the Jainas like the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Naiyāyikas admitted the possibility of substance without *guṇas* at least for a while.

In conclusion Upadhye makes a textual reference in order finally to explain away Siddhasena's objection. Colour, taste, smell and touch are the qualities of matter or *pudgala* and being inherent and essential characteristics of matter they continue to remain even up to the stage of primary atoms. But qualities too have their *paryāyas* or modes : colour as a quality has the five modifications black, blue, yellow, white and red.[17] So the phrase *vaṇṇapajjavehim* (*Bhagavatīsūtra* 4m,513) means "by the modifications of colour" and there is no implication here at all that the colour is a *paryāya.* If the word were to be taken as Karmadhāraya compound then the plural loses its force, *vaṇṇa* as a quality being only one. The conclusion he thus comes to is that it is justified to draw the distinction between *guṇa* and *paryāya.* And then he add : moreover we do find passages in the Śvetāmbara canon itself where the *guṇa* and *paryāya* of a *dravya* are distinguished, namely in *Uttarādhyayanasūtra* 28, 6.

In Jainism the discussion on *dravya, guṇa* and *paryāya* has been an ongoing one and what has been touched upon here are the basic points of the problem with special reference to Kundakunda.

NOTES

1. This is generally true even though perhaps the first canonical reference to these terms is in *Uttarādhyayanasūtra* 28, 5-6 (reference from A.N. Upadhye's Introduction : *Śrī Kundakundācārya's Pravacanasāra,* Agas : The Parama-Śruta-Prabhāvaka Mandal, Shrimad Rajachandra Ashrama, 1984, p. 65). These *sūtra* state the following : "...The wise ones have taught the knowledge of substances, qualities and all the developments. Substance is the substance of qualities; the qualities are inherent in one substance; but the characteristic of developments is that they inhere in either (viz. substance or qualities)." Hermann Jacobi (tr.) : *Jaina Sūtra,* Part II *Sacred Books of the East,* Vol. 45, 1895, reprinted Delhi : Motilal Banarsidas, 1980, p. 153. The first footnote on the page clearly indicates that "substances, qualities and all developments" refer to *dravya, guṇa* and *paryāya* respectively.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2. C/f :....''postulating the distinct category of *guṇa* must have been done. posterior ... to the period when *paryāya* alone was accepted as the more inclusive category''. Y. J. Padmarajiah : *Jaina Theories of Reality and Knowledge,* Delhi : Motilal Banarsidass, 1963 (reprinted 1986), p. 260, in the footnote continued from the previous page.

3. After surveying at length various opinions of scholars, Upadhye, p. 21 (see Note 1 above) believes that Kundakunda's age '''lies at the beginning of the Christian era''. Umāsvāti's dates are considered to be c. 3rd-4th centuries A.D. See also K.K. Dixit's historical evaluation in K.K. Dixit (tr) : *Pt. Sukhlalji's Commentary on Tattvārtha Sūtra of Vācaka Umāsvāti,* Ahmedabad : L. D... Institute of Indology, 1974 p. 1, and the Historical introduction by Chakravartinayanar A. in Chakravartinayanar A. and Upadhye, A.N., *Pañcāstikāya* [of Kundakunda], New Delhi : Bharatiya Jñanapith, 1975, pp. i-xiii.

4. Jacobi's Introduction to *Jaina Sūtras*, p. xxxiv, see Note 1 above.

5. Padmarajiah, o. 260, see Note 2 above.

6. Upadhye's Introduction to *Pravacanasāra,* p. 63 See Note 1 above.

7. *atha Jñeyatattva-prajñāpanaṁ tatra padārhasya samyag-dravya-guṇa-paryāya-svarūpam-upavarṇayati.* A.N. Upadhye (ed.) : *Pravacanasāra,* p. 107 (see Note 1 for details). The work is described as a pro-canonical text of the Jainas and this book contains a critical edition of the Prakrit text (translated into English by Upadhye. pp. 384-410) with the Sanskrit commentaries of Amṛtacandra (whose Sanskrit translation of the original Prakrit *gāthās* are cited in the paper) and Jayasena and the Hindi Commentary of Pande Hemarāja.

8. Umāsvāti enumerates the seven basic *tattvas* in his *Tattvārthādhigamasūtram,* I, 4 : *jīva-ajīva-āsrava-bandha-saṁvara-nirjarā-mokṣās-tattvam. Karman* is a key factor in understanding the sequence of these basic truths of Jaina metaphysics. Through the interaction between *jīva* and *ajīva,* which is said to have taken place since beginningless time, an aspect of *ajīva* (viz., *pudgala)* becomes converted into *karman* and clings to *jīva.* This fact, as the Jainas see it, is realistically depicted as dust particles settling on an oiled surface. The effect to *karman* attaching itself or streaming (*āsrava)* into *jīva* restricts its powers of expression characterized by the manifestation of consciousness intrinsic to its nature. Thus *jīva* is under bondage (*bandha).* It is, however, possible for *jīva* to prevent the inflow of *karmaṅ* though ascetic practices and this truth is expressed in the word *saṁvara.* Asceticism also helps *jīva* to rid itself of or burn away the *karman* that is already binding it and this truth is *nirjarā.* The effect of

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

cleansing itself of all *karman* brings with it the soul's liberation from the influence of *karman* and this truth which is the goal to be reached is *mokṣa*.

9. The *gāthā* following this reiterates the point with the added statement emphasizing the existence of a *dravya* and leaves no doubt as to Kundakunda's standpoint regarding his acceptance of the three categories :

   sadbhāvo hi svabhāvo guṇair saha paryāyaiś-citraiḥ/
   *dravyasya sarva-kālam-utpāda-vyaya-dhruvatvaiḥ//*PrS II, 4

   The nature of the substance is existence accompanied by qualities by its variegated modifications and by origination, destruction and permanence for all time.

   Cf. also Kundakunda's *Pañcāstikāya* 10 :

   dravyaṁ sal lakṣaṇam utpāda-vyaya-dhruvatva-saṁyuktam/
   gūṇa-paryāya-āśrayaṁ vā yat-tad-bhaṇanti sarvajñāḥ//

   The wise ones call a *dravya* what has the attribute of existence, is accompanied by origination, destruction and permanence, or is the locus of *guṇa* and *paryāya*. Kundakunda : *Pañcāstikāyaḥ,* Agas : Srimad Rajachandra Ashram, 1983, p. 24. The book contains the original Prakrit text with the Sanskrit commentaries by Amṛtacandra (whose Sanskrit translation of the text is used here) and Jayasena and the Hindi commentary by Pande Hemarāja.

10. The term *cetanopayoga* is translated as "manifestation of consciousness' by Upadhye. *Upayoga* is a technical term in Jainism and is perhaps better translated as '[operation''. Two such operations intrinsic to the nature of consciousness, which in fact signify its manifestation, are *jñāna* and *darśana. Cf. Introduction by P.S. Jaini (ed.) :* Amṛtacandrasūri's *Laghutattvasphoṭa,* Ahmedabad : L.D. Institute of Indology, 1978, p. 18. In his *Tattvārthasūtra,* II, 8 Umāsvāti says with reference to *Jīva-dravya : Upayogo lakṣaṇam,* the operation or manifestation [of consciousness] is its characteristic mark.

11. The word omitted here is *evaṁ-vidham,* "in this manner" which continues from the previous *gāthā* (PrS II, 18) which argues that *dravya* is "existence itself" (*dravyaṃ svayaṃ suttā).*

12. If one considers the example of smoke and fire then, as Nyāya points out, smoke is the *liṅga* of the fire and here it is difficult to see how smoke can be seen as the *guṇa* of fire, which heat and light can be. Further, if smoke were to be the *guṇa* of fire it should always manifest itself whenever fire occurs, which is not so in the case of fire without smoke. The cognition

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of smoke only indicates the effect of fire but the presence of fire itself does not necessarily indicate the existence of smoke. This means that fire with smoke would, in Jaina terminology, be one *paryāya* of fire, and fire without smoke the other. Both these types of fire would have at least heat as a *guṇa*. Thus, *liṅga* would be a *paryāya*, fire in its specific mode with smoke. But Kundakunda does not deal with this question here and one is perhaps to assume that *liṅga* is not used in such a technical sense, though a clarification would make the definition precise.

13. The Jainas also have a classification of 5 *astikāyas*, i.e. of "those entries that manifest, though numerous qualities and modes, their existence with extensive spatial points", Upadhye's introduction to *Pravacanasāra* p. 40 (see Note 1 above). Of the 6 *dravyas* in Jaina metaphysics (*5 ajīva-dravyas* and *jīva-dravya*) only *kāla* is excluded here because there are no space-points in time (*na santi pradeśā iti kālasya)* as PrS II, 43 points out (II, 46 also says the same with reference to a moment, the smallest unit of time, *samayas-tv-apradeśaḥ).* It is significant to note the plural number of "space-points" because II, 49 says that "time has only one space-point, viz., *samaya,* instant or moment". It is interesting to note how the smallest unit of time (*samaya)* is measured : "it is equal to the time required by that unit of substance measured by one *Pradeśa* to traverse one space-point of the sky-substance (*...pradeśa-mātrasya dravyajātasya / vyatipatataḥ sa vartate pradeśam ākāśa-dravyasya //*PrS II, 46).

14. *Introduction to Pravacanasāra,* p. 62. see Note 1 above.

15. P.S. Jaini's introduction to Amṛtacandrasūri's *Laghutattvasphoṭa,* p. 18. See Note 10 above.

16. In his introduction to Kundakunda's *Pravacanasāra,* p. 64. See Note 1 above. The summary that follows is largely based on the section he entitles 'Kundakunda's position stated and Siddhasena's objections explained away', *ibid.*

17. In a footnote on this point Upadhye acknowledges the confusion in sometimes referring to a colour as both *guṇa* and *paryāya.* the original Jaina idea, he adds, was that colour is a *guṇa* and the different colours such as yellow, etc., are *paryāyas* of the *guṇa.* The confusion arose because according to Vaiśeṣika the various colours are *guṇas.*

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Śramana, Vol. 57, No. 3-4
July-December 2006

ENVIRONMENTAL ASPECT OF NON-VIOLENCE

Dr. B. N. Sinha*

The external situation in which a man leads his life is known as environment. It is the atmosphere in which a man lives. The environment consists of all things, all happenings around a human being and his relations to them. The environment is the base on which the lives of not only human beings only but all beings depend. The life and environment cannot be separated. Without environment, no life can exist. Therefore for having a good and healthy life, suitable environment is needed.

The environment may be divided mainly in two classes.

1. Natural Environment
2. Human Environment

1. Natural Environment

The nature itself and the things presented by nature may be considered as natural environment. The natural environment may also be named as physical environment. The earth, water, fire, air and sky are the constituents of physical environment.

2. Human Environment

The human environment consists of all religious, social, economic and political activities done by a man and also by other persons living around him.

So far the relation between environment and non-violence is concerned, it may be observed through the method applied in the

* Former Reader, Dept. of Philosophy, M. G. Kashi Vidyapeeth, Varanasi

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

last observation. It has been already discussed that non-violence has two forms negative and positive. The negative form is seen in the prohibition of violence while the positive forms presents non-violence itself.

The Negative form of Environmental Non-violence

As it has been discussed above there are two types of environment - Natural and Human. So in order to know the prohibition of violences happening in the environment, it is necessary to know violences being caused by the environment.

Violence in the Natural Environment

The different types of pollution being caused in the natural environment may be treated as the violence in the natural environment.

1. Water-pollution

When the water is polluted it becomes injurious. The water-pollution is caused by the following elements found in the society.

a) Factories - Often factories are established by the sides of sea, river, lake, canal and big tank to which their drains of dirty water are connected. The refuses of the factories are also flown in the ocean or river or canals etc. The dirty water and refuses of the factories make the water of sea or river or tank poisonous which injures the animals and insects living in the water.

b) Filths of Cities - Generally cities are found situated on the banks of seas and rivers. The sewers of the cities are also connected to water sources near them, which carry dirts and filths of cities. The populations of the cities are increasing day by day because the people living in the villages have attraction towards urban life and they are moving to the cities. So the dirtiness of the cities is increasing and causing pollution of water.

c) Cloth-washing - Normally, people wash their cloths by the sides of rivers and tanks. The dirts of cloths and water with soap and washing powder go to the rivers and tanks, which make water

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

dirty. In this way water pollution is increased.

d) Dead-bodies - The dead bodies of human beings and animals are flown in the rivers. Even after burning the dead bodies people flow the ashes and remaining other things in water. These dead bodies, ashes and other dirty things thrown in the river cause the water polluted.

e) Scientific-experiment - The science is improving day by day and different discoveries are being made in the world. But the experiments are performed in the ocean, which make the water of ocean dirty and poisonous. So the scientific experiments also kill the animals and insects living in the ocean.

To prohibit the violence caused by water pollution there must be searched out some alternative ways. Neither factories nor cities should throw their dirts and refuses in the water sources. The dirty water and refuses should be used in the agriculture, after getting them purified and useful. The cloths should be washed in the man-made water sources, not on the banks of rivers and tanks. The dead bodies also should be buried in the land. The scientific experiment should be done carefully in the deserts.

2. Air-pollution

The air is polluted due to following activities -

a) Factories - All factories have big chimneys, which fume regularly and make the sky black and dark. The smoke coming through the chimneys of various factories is also poisonous and injurious. It causes diseases and harms lives on the earth in different ways. More over the refuses of different factories present bad smells, which become intolerable for human life.

b) Dead-bodies of Animals - The dead bodies of animals are generally thrown in the open-field, which after being rotten pollute the air.

c) Compost - The various refuses and dirty things are mixed openly in order to make compost, which causes harm to human

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

being, by its injurious smells.

d) Generators and Vehicles - In the cities generators and vehicles have become the parts of normal human life. The city life moves through vehicles and is lighted by generators when the electric-supply is suspended. The generators and vehicles create dirty smoke and injurious smells, which affect the human life very badly.

e) Open-drains - In the so many undeveloped towns drains are found open which create unbearable and unhealthy smells, which also injure the human life.

To remove the air-pollution the chimneys of factories should be too high, the dead bodies of animals should be buried and compost should be prepared very far from the human-population. The electric-supply must be regular. So that generators may be used seldom, and the vehicles should be kept in proper-order so that they may create less smoke. The drains must be covered so that dirty smells will not pollute the air.

3. Sound-Pollution

The sound pollution is created in the following ways.

a) Loudspeakers - The loudspeakers are used on the occasion of marriage ceremonies, different festivities and election. Particularly at the time of election all competitors want to suppress and surpass other's sounds. As a result of that nothing is heard clearly and sound pollution is created. The same thing is found at the time of festivities like Durgā-pujā, Saraswati-pujā, Holi etc.

b) Vehicles - In the increasing populations of the cities the streets and roads are seen full of rush. All parsons want to march fastly. No body wants to wait. All people want to move by surpassing others, towards decided places, even by rushing others, particularly in the cities like Varanasi where people lack traffic sense no road is found for free movement. So only the horns of different vehicles are heard which create a painful sound population.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

c) Street-dogs - The barking of street dogs in the night also create sound pollution. In the whole world India is on the top, so for sound pollution created by dogs is concerned. Here, there is no control over dogs and other animals alike. They move freely in the street and make unwanted sound. They bark in the group, which disturbs all persons sleeping in the night.

So with a view to finish the sound-pollution loudspeakers should be utilized where there it is needed, not for making sound and disturbing others. In the cities traffic-order should be maintained. The dogs be tamed properly, they must not be left freely in the streets.

Cutting of Trees and Destruction of Forests

The township is extending very fast due to the increasing population of nation several colonies and industrial states are being established of different places in the country, for which open and unoccupied lands are needed. So in order to get open and unoccupied and trees are being cut down and forests are being destroyed. The greenery has lost its value. In this way the present human life is suffering from following problems.

i) Loss of Oxygen - The trees supply us oxygen, which is the most necessary thing for the existence of life. There can be no life without oxygen. Therefore cutting of trees causes the loss of oxygen. In other words, the cutting of trees results into the loss of life.

ii) Shortage of Rain - The trees and forests retain monsoon. So the places which have large number of trees and big forests get heavy rains which help the residents of those places in farming and other purposes. The places where there are neither trees nor forests do not have rain and become deserts. The cutting of trees causes shortage of rain.

iii) Lack of Fruits and shadows - The trees supply to the human life sweet fruits, green scenes and cool shadows and also food for the animals tamed. The human life suffers from the loss

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of there necessary things when the trees are cut down. The soothing air is lost and the natural scenes are destroyed. Trees create healthy atmosphere for a good and pleasant life. It is nature, which saves human beings and animals from different diseases. But, in the absence of trees and forests nature becomes unable to do so.

iv) Failure of wood-supply - The trees and forests supply wood regularly, which helps human beings in producing wooden things for pleasant life. When the trees are cut down and forests are finished the regular supply of wood fails and the human life becomes troublesome.

v) Forests - Animals - troubled - The destruction of forests has caused trouble for all beings living in the forests. They do not have proper shelters to live in. So the numbers of birds and beasts are decreasing day by day. Some of their kinds have been already lost.

vi) Land - Level - damaged - In the rainy season, when it rains heavily, water flows forcefully from high lands to low lands and in the absence of forest the uncontrolled current of water damages the land-levels. The damaged level of land makes it unsuitable for agriculture.

vii) Villages flown away - Due to the heavy rain the villages settled in the hilly areas are flown away, if the trees have been cut there. The trees and forests check the forceful current of water.

These are the different violences caused by the cutting of trees and destroying forests. So, with a view to be free from these violences, destructions of trees and forests must be stopped.

Violence from of Human Environment

The human environment is created by the human beings themselves. It may be seen in the human life. The human environment may be classified mainly as -

a) Religious Human Environment

b) Social Human Environment

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

c) Economic Human Environment

d) Political Human Environment

e) Rural Human Environment

f) Urban Human Environment

a) Pollution of Religious Human Environment

The religious environment becomes irreligious when the followers of two religions quarrel among themselves for some minor religious behaviour. They do not understand the reality of religion and for some external activity of religious field, cause crimes. They interpret religion in wrong way and present it in injurious way. So the religion the real function of which is to support the human life becomes its destroyers.

b) Pollution of Social Human Environment

The social environment is disturbed and polluted when the unsocial activities come freely in practice. The persons of so-called lower classes are neglected and misbehaved by the people of so called upper classes. The illiterate persons are misbehaved by the literate persons. The unsocial and unethical behaviors come in practice. Individuals of society think of their own selves not of others. The personal benefit becomes important while the social betterment is put aside. The unsocial elements pollute the social environment. More over the differences between upper classes and lower classes, literates and illiterates, rich and poor cause the social pollution.

c) Pollution of Economic Human Environment

The different between wealthy persons and poor people causes the pollution of economic environment. The poor labours are exploited by the capitalists, when they go to work in their factories. They are also exploited by the landlords, when they go to work in their lands. The rich persons do not care for just or unjust. They simply think of money making. The smuggling and black marketing are practiced by the rich persons with a view to earn a lot of money. The gang of smugglers make injuries and even kills those persons who oppose smuggling. The smugglers are

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

found linked from one nation to other nations. So the economic pollution is seen on the internal level.

d) Pollution of Political Environment

The pollution of political environment is found primarily in the rude monarchy and dictatorship in which there works one-man rule. In the monarchy the government runs, as the monarch likes. The monarch always orders his sub-ordinates to work for his privileges and pleasures. He never cares for the subjects of his state. The common people are always neglected in the monarchy as well as in the dictatorship. The dictatorship supports openly the theory of violence. In the dictatorship like Fascism and Nazism, it has been declared forcefully that a state can do all right and wrong for the extension of its territory. The man who can fight against other states has right to live, otherwise his living in a nation is never justified. Even in the democracy political environment is disturbed when the election is mismanaged. The purchasing of votes and capturing election-booths pollute the political environment. The leaders after being elected become rich and misbehave with poor and simple people, which cause the political environment polluted.

e) The Rural Environment Polluted

The villages of rural areas are now no more those villages, which they were fifty years ago. There have been peculiar changes in the villages. The simple, co-operative and lovely village life of the past has been changed into complex, non-co-operative and envious life. Almost all road-crossings in the villages have big or small markets consisting of general stores, tea-stalls, pan-stalls, shop of tailoring, laundry etc. More than seventy five percent of the villagers visit the markets daily. They pass their valuable time by sitting unnecessarily in the tea-stalls and the pan-stalls. The village politics is discussed there, in which not the fruitful ideas for the betterment of the village but personal grudge and grievances are conveyed to one another among the villages. There are planned different injurious activities. The narrow mindedness has affected the village life in such a way that the villagers are found always thinking not have helping but harming one another. Often villagers

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

misuse their time more in harassing and humiliating others than in thinking their own proper development. In this way the rural environment has been polluted which harms the human life in different ways.

Though the villages have been connected to the cities and towns, so that they may have modern privileges, they have been cut off from neutrality and simplicity the real values of the village life.

f) Pollution of Urban Environment

The pollution of urban environment is caused in the following way.

i) Forced arrival of villagers in the urban areas

The cities and towns are found much more attractive than the villages. The modern scientific discoveries are seen in practice in the urban areas, which attract villagers, and they like to visit cities. But sometimes they are forced to come to the cities and towns, when agriculture fails due to flood or draught and they become helpless for their business and bread. They come to the cities in order to get employment. They do not know how to live in cities. However they live in the improperly managed houses, which have neither kitchen nor bathrooms. They even discharge their natural calls here and there in the streets and by the sides of roads. They are cheated and exploited by the clever urban people. The urban-people do not pay proper social treatment to them.

ii) Smoky and unhealthy Atmosphere

The different vehicles used in the cities discharge black and poisonous smoke in the cities, which creates suffocation for human beings. The open drains turn the air of the cities into the unbearable bad smell. Thus the environment becomes polluted and unhealthy which destroys the human life.

iii) Crimes

The criminal activities are done in the cities much more than rural areas. The pick-pocketing, stealing, robbery, abduction etc. are normally seen in urban areas. Even in the big temples the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

valuable chains and other ornaments are snatched from women coming to worship gods and goddesses. The shops and banks are robbed openly in the day times in the cities. The airoplanes are also abducted in the cities. The unsocial and unethical jobs like prostitution etc. are done in the cities. So these all unhealthy, unethical and unsocial activities create pollution in the urban areas.

The pollution of whatsoever type that may be, is nothing but injury and that must be removed.

The Positive form of Environmental Non-violence

The positive form of environmental non-violence may be seen in the activities done for creating suitable atmosphere for the healthy, prosperous and peaceful life, as such -

i) Training Centres

The training centres concerning environment should be established so that people may be trained to keep the environment neat and clean. Many people either of rural areas or of urban areas do not know the value of environment. They do carelessly whatever they like without thinking any thing of environment. They do not think that their minor mistake may cause the major harm to the environments.

ii) Plantation

The plantation is the main source of the environmental development. The trees give flowers, fruits and charming scenes, which make the human life healthy and happy. They provide cool shadow and soothing air. They supply oxygen, which is directly related to human life. The plants and trees are parts of both human life as well as animal life. So the plantation must be done on the large scale. The present government is inspiring people to take interest in the plantation. As it has been declared every man should plant at least one plant, so that collectively there will be many trees.

iii) Equality in Social bihaviour

The social environment needs equality in social behaviours. The equality and fraternity are the main basis of peaceful and pleasant social environment. All should honour one another. The

Gaṇesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

feeling of co-operation makes the society strong, so it should be maintained carefully. No society can be developed without co-operation. The inter-dependence which matters much in the human life is nothing but co-operation.

iv) Honesty in Production and Distribution

The honesty in production and distribution cause a healthy economic environment. The honesty in production provides sufficient commodities needed for human life and all have necessary things of their use. The honesty in the distribution of the things produced and the benefits achieved protect common people from exploitation.

v) Honesty in the public welfare and the formation of government

The political environment is found suitable for the state when the leaders of nation think honestly for the welfare of the public living in the state. The government formed honestly makes the state strong. The honesty makes the relation between public and the government powerful. So Mahatma Gandhi has asserted that politics needs a strong moral support.

vi) True Religious Feeling

The true religious feeling is needed for a good environment. The religion is known as the basis of human life and society. So the religion should be developed not on the basis of communal feeling but on the basis of true religious feeling. The true religious feeling is the positive form of environmental non-violences.

In this way the environmental non-violence is found in the happy, healthy and fraternal peaceful environment.

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Śramana, Vol. 57, No. 3-4
July-December 2006

PHILOSOPHICAL INTERPRETATIONS OF RELIGION

-Prof. S. P. Dubey*

Any fruitful discussion on this subject invites a word or two on the two terms of the title, i.e., philosophy and religion. We all know that etymologically the term 'philosophy' means 'love' (Greek, *philien*) "of wisdom' (*Sophia*). The universally accepted Sanskrit word for philosophy is *darśana* ('to see' often root *dṛṣ)*. In some regional Indian languages the word *tattva-vidyā* (science about Reality) is also used for it. Likewise, we know that the word 'religion' is derived from Latin term religion meaning thereby to 'treat with care'(*religere*), or 'to bind' (*relegate*), the latter being close to Sanskrit term used for it, i.e., *dharma*, from the root '*dhṛ*', expressing the meaning 'to hold fast'.'

Roman writer Cicero (106-43 B.C.), in his *De Natura Deorum* (On the Nature of gods) held that *'religio'* is derived from the root *'leg'* - meaning 'to take 'to observe'. *'Leg'* is the counterpart of the Greek term '*paratērēsis*' (observation). Roman grammarian Servius (fl. end of 4th cent A.D.), on the other hand, maintained that '*religio*' came from another root '*lig*' - 'to bind', so that religio meant a 'relationship' between man and God (cf his comm. on *Virgil*). St. Augustine (354-430 A.D.) uses both the meanings. It is most likely that the earlier one was the original. But the historical Jesus has shown preference for the former as he is reported as saying the Kingdom of God cometh not with *paratērēsis*' and adds 'the Kingdom of God is *entos humon*' (it is

* HOD, (Philosophy)Rani Durgavati Univ. Jabalpur (M.P.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

realized inwardly). This, probably, may be the reason why Christendom has adopted the meaning 'to bind' in course of its long history.

Of several usages of the word 'philosophy', in the present context it is being used for objective, scientific and rational enquiry into the nature of religion. John Caird has made use of the term in exactly this sense. Religion, on its part, connotes all those activities of mankind that relate him with some non-visible ultimate reality (usually known as God). It is a means of ultimate transformation. Philosophical interpretation of religion (more popularly, philosophy of religion) is, then, some kind of objective and rational interpretation of religion.

Philosophy of religion presupposes, prior existence of religion and some kind of proximity between the two disciplines. 'The philosophical traditions in India, by and large, can be said to be nothing but philosophy of religion. The Buddha had long back instructed his disciples very clearly not to accept the words of their Master unexamined and simply on the ground of sheer respect.[2] Śaṁkara also treats reason to be an authority in matters of reality when the question of truth and falsity arises. [3] Religious traditions (*sampradāyas*), on their part make use of reason for defending and propagating their doctrines. With the only exception of the early Mādhyamikas even the philosophical systems in India are essentially practical and seek release from the fetters of the *bhava* (world) or *karma* and cherish the ideal of *mokṣa*. Philosophy here is not mere speculation; it is 'seeing' by "knowing' and by 'being'.[4]

Like India Greece, Ancient Egypt and Islamic World did not take these two disciplines separately. The Greeks had no word for 'religion'. From Thales onward what we today call religion was included in *philosophia*. Ancient Egypt also did not know the distinction between religion and philosophy. The Islamic world, although having an exact term for religion (*dīna*), does not share

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the distinction between secular and religious spheres. The Chinese have no word corresponding to religion' and have, of late, adopted the term '*Tsun Chiao* ' from Japanese which was adapted by the latter to suit the modern concept of religion.[5]

The case is, however, different in Europe. There we see several marriages and divorces between philosophy and religion through the centuries. The predominant western tradition, as found today, is the combination of Greek Philosophy, Hebrew Religion and Roman state organization. It was Philo Judaeus of Alexandria (c. 20-10 B.C. - 50 A.D. ?) who had combined the Greek and the Jewish traditions when the Hebrew scriptures were interpreted in the light of Greek philosophy which, in its turn, was influenced by Moses. 'Logos' became the first-born son of God. 'The marriage continued till seventeenth century when Spinoza (1632-77) pulled it down. His reaction has been described as 'yes-but'. The 'yes' part permits, to some extent, the external formulation of some of the principles of the traditional religious philosophy. The 'but' part is a statement of a special sense in which Spinoza himself is willing to use that formulation - he would accept a God, but not in its traditional sense.

Immanuel Kant (1724-1804) should be given the credit of having technically formulated the phrase' the philosophy of religion.' In 1793 he wrote the famous book *Religion Innerhalb der Grenzen der Blassen Vernunft.*[6] It is a work depicting religion within the sphere of 'naked reason' or religion within the 'boundary of pure reason'. It is the last major work of the saint-philosopher and is addressed to scholars (the learned world in general). Of four Books of this work, the Second Book became controversial, as, according to the State censure (during the rule of Frederick William II), the essay controverted the teachings of the Bible.

Kant's Religion is a work on religion *per se.* It is important for the understanding of his ethical writings for two main reasons.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

One, it presents his most careful and systematic analysis of the will and its degrees of Potency in volition; two, its Book One contains what Kant considered his clearest and simplest statement of the nature of moral incentives and of the way in which moral pleasures is to be distinguished from pathological pleasure.

In 1800 he wrote 'Preface' to Jachmanns *Examination of the Kantian Philosophy of Religion with regard to its alleged Similarity to pure Mysticism*. His class-room lectures, delivered before 1788 (during the reign of Fredcrick the Great), were edited after his death by Politz and published at Leipzig in 1817 (second edition, in 1830) under the title *Vorlesungen uber die philosophische religionslehre* (*Lectures on the Philosophy of Religion*). Here he expresses the positive and constructive aspects of philosophy of religion. It contains, in simple and direct statements, his central theological beliefs. It has two parts : (i) Transcendental Theology and (ii) Moral Theology. The first part summarizes the theological conclusions arrived at in his first and third critiques. The second one contains the central ethico-religious doctrines of the *Critique of Practical Reason* and *Religion Within the Limits of Reason Alone (the fourth Critique!)*. After an introductory statement on the moral approach to the knowledge of God, Kant describes God's moral attributes - His holiness, goodness, and justice, and His relation to evil. Then comes a discussion on the certainty of this knowledge of God. This is followed by a consideration of God's relation to the world as its Cause, Creator, and ruler. The *Lectures* end with a brief examination of revelation and a very sketchy history of natural theology.

The strength of Kant's conception of religion is his efforts to separate the form of religion from its substance, the transitory from the abiding. For him the right course is not to go from grace to virtue but rather to progress from virtue to pardoning grace. His religion is anthropocentric and his Religion is a deistic classic. He was convinced in his heart that the world is in the hands of a divine

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

providence. In private conversations with his friends (especially with his biographer-friend R.B. Jachmann) he spoke out in undeniable testimony to an inner feeling and a genuine conviction of God's existence; and 'in the true sense of the word he was a worshipper of God' (cf. *Kant's Biography*, pp. 166, 72).

Therefore, it was Kant and not G.W.F. Hegel (1770-1831) who coined the phrase 'Philosophy of Religion' (*Philosophie der Religion*), as is found in some of the textbooks on the subject. However, the contribution of Hegel is important and phenomenal. The collection of his classroom lectures also have been published posthumously.[7] Hegel posited 'religion' as a self-subsisting transcendent idea that unfolds itself in dynamic expression in course of ever-changing history unfolds itself as a 'positive religion'.

John Caird, a disciple of Hegel, has discussed the competency of reason in the province of religion.[8] He states that a philosophy of religion starts with the presupposition that religious ideas can be taken out of the domain of feeling or practical experience and made objects of rational, objective and scientific reflection. According to him there are three major objections to the philosophical treatment of religion and all of them have been refuted by him. He has also established that philosophy of religion is not only possible but imperative, lest religion be reduced to dogma and individual faith.

The first objection to the philosophical analysis of religion is from the relative character of human knowledge, advocated by Herbert Spencer. If our knowledge is relative, how can we know God (or the Absolute), which is the goal of religion? The Hegelian view is that our knowledge is not relative. The very awareness of relativity indicates its transcendent nature. We cannot declare an object to be limited or relative unless we have the idea of the unlimited or the absolute.

The next objection is from the intuitive character of religious knowledge. Rudolf Otto is the best advocate of such a position.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Intuitive or the mystical character of religious experience is claimed to be outside the scrutiny of reason. The answer is that the very credibility of intuitive knowledge is provided by reason. In case of a conflict between intuition and non-intuition, the judgement is given by reason. And the supremacy of judicial agency is obvious.

The third objection to the possibility of philosophy of religion is from the authoritarian character of religion. It is claimed that religious knowledge is grounded in revelation and this is of divine origin, hence beyond the scope of reason. Śaṁkara could be taken as a advocate of this view in India. Karl Barth represents the European position of this view. The Hegelian answer to this argument is that revelation does not exclude reason. There is no absolute opposition between the two. Distinction between 'contrary to reason' and 'above reason' is also to be made. Moreover, the authenticity to authority is provided by reason itself (*manana).* The scripture and its followers use reason for defensive as well as offensive purposes. The example of lion and the forest (*vana-siṁha nyāya*) is aptly cited to explain the relation in the Indian context. John Caird, on his part, refutes the materialistic position as well to establish the viability of the discipline. He says that matter is not self-explanatory. Matter requires reason to explain its origin and growth. Moreover, even the materialists admit that spirit or reason is a later evolute. How, one may ask, the later evolute could be inferior to the earlier one? Hence the position of the materialists is self-contradictory. For a consistent explanation of their theory they have to depend on reason. Once the basic position of materialism is shaken, the structure collapses and the superiority or reason is established.

To come back to the main theme of the discussion, philosophy of religion undoubtedly deals with religion. It discusses issues of origin and development of religion, the relation between religion and philosophy, psychology, history and morality etc. It centers

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

round God, his revelation, one's faith and belief towards God. Divine experience and mysticism are also important topics for its discussion. Religious knowledge and religious consciousness make important points of discussion. The problems of religious language, verification, eschatology, immortality, sin and salvation are also discussed in most of the books on philosophy or religion.

But the question now is, what is this religion ? Historically we find religions, and not religion. We have religions like Hinduism, Christianity, Islam, Jainism, Sikhism, Buddhism etc., but we do not have a (or) *the religion* which could be followed by a set of people. It is, then, in this denominational sense that we make use of the term 'religion' when we interpret it philosophically ? Perhaps not. One might say that as we have denominational philosophies (Indian, Chinese, American etc.) a rational enquiry, so we are not to take by 'religion' various denominations but the essence of all (or at least of the major) religions.

One can always detect some common properties universally shared by almost all the religions of the world and this abstraction would be the subject-matter of philosophical interpretation. For instance, we can find an objective sacred reality which man encounters in his experience and reacts, or responds to on his part in a manner that non-religious man does not. This can be an essential aspect of all religions. Thus man, God and the society could be taken as the three properties common to many/most religions and they can be interpreted philosophically. But such an abstract religion, we are afraid, would not involve common man's concern and will be, so to say, lifeless. The task of philosophy of religion is not to create religion but to interpret one. Usually it is the religious practice that is the basis of theorizing, and not the other way round. The essentialist's approach (as exhibited in Swami Vivekānanda and Dr. Bhagavandas) might appear fascinating, but will be rejected by the religious man as well as by the religionist. This approach could be the ideal but would prove to

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

be difficult in practice and futile.

Should we, then, follow the sectarian approach where we interpret only our religion ? This would be theology. Philosophical approach invites some sort of transcendence of our limits, whether material or mental. If we interpret our own faith in the true sense, it has to be without reservation. If need be, we should refute and reject those articles of faith which do not stand for rational examination. And for such a transcending and daring approach knowledge of other religions, preferably by way of inter-religious dialogue, would be helpful and rewarding.

If we have a look at the representative English texts on philosophy of religion, for example, those written by Caird (1880), Hoffding (1906), Galloway (1914), Wright (1922), Edwards (1924), Hick (1963), Smith (1965), Mitchell (1971) and Capitan (1972), we can easily find that most of them have been written from sectarian points of view. They do not take into account other major religious traditions or their problems. Some of them echo fanaticism and arrogance as well, which are so opposed to philosophical aptitude. Hegel Himself idealized Christianity as the absolute religion. Needless to say that there cannot be any absolute religion nor can there be an absolute explanation of our experience.

Most of the textbooks written by western scholars on the subject, further, do not mention even the most important concepts of Oriental religions as if they are not aware of the very existence of such other traditions. Those who do know and do make a mention of Eastern religions also at time draw instance, a scholar like Cantwell Smith (one time Director of the Centre for the Study of World Religions, Harvard) could indiscriminately conclude that the 'end' of religion is god. Can this be the concluding remark of one who is award of the non-theistic systems (like Jainism and Buddhism, in India) in the world of religions? Of course, if we take the God to be the ontological goal we can find some Godhood in every religion, but not the psychological goal.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

In this technological age, when our planet has squeezed to a great extent, any author on this subject ignorant or negligent of other important religious traditions cannot be excused. A proper study of the subject requires fair groundings in the history of all the major religions. Today this much is the minimum that is required of a religionist. Besides, studies in philosophy of religion could be pursued better if one has the workable knowledge of some of the languages of the major religions. Thus a scholar, with multilingual background and cross-disciplinary approach, can take up comparative study of religions in the beginning which will lead him gradually to interpret religion philosophically. Then only one will be well-equipped and qualified to pass value-judgements on various concepts belonging to different religions. In addition to these, for better and fuller comprehension of this religion, we require sympathetic and appreciative treading. Without this we shall not be able to grasp even the outer layers thereof, what to talk of the essentials.

In the present context Indian scholars (and authors) owe special obligations. Ours is the most religious region on the earth. This land has given birth to several major and minor living religions. We should, at the initial stage, supplement the existing studies (and texts) on the subject by introducing the important concepts of Indian religions. We may mention some of them - *karma,* rebirth, *avidyā, mokṣa, nirvāṇa, jīvanamukti, loka-saṅgraha, avatāra, Bodhisattva,* etc.). Their inclusion may present complete picture of the situation. We must discuss whether *Karma* is a convenient fiction of Indian philosophy (as per Eliot Deutch of Hawaii) or is its bed-rock, whether *avidyā* is grounded in the individual or in the absolute, whether *mokṣa* is an end for mankind, whether *nirvāṇa* has positive contents and so on. If we introduce these concepts in the courses on religion offered by our universities the task could be expedited.

Further, conceptual comparisons will generate new insights

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

into the nature of religions. To be more elaborate on this point, of God, we should take up, along with Plato, Aristotle, Aquinas (1224-74) and Descartes (1596-1650),[9] the discourse between Varuṇa and Bhṛgu in the *Taittirīya*,[10] where Brahman has been defined as the creator, the preserver and the destroyer of the world. The argument has briefly been stated in the *Brahma-sūtras*[11] of Bādarāyaṇa and elaborated by Śaṁkara in his commentary thereon. We could also extend the area of this comparison to other traditions. For instance, one can always refer to the mystic thinker Al Ghazali (d. 1111) who in the present context anticipates Descartes' cogito and causal argument. Similarly, when we talk of the teleological argument in Psalms (XIX, 1,2), Plato and the English Churchman William Paley (1743-1805), we should not feel shy of referring to the *Brahma-sūtras* where the agency for the design in the world is required to be conscious one (Brahman), and not the Prakṛti of Śāṁkhya.[12] Likewise, when we come across the ontological argument in Plato and more specifically in St. Anselm (1033-1109) where the latter says that 'God is that than which nothing greater can be conceived',[13] we can not afford to ignore Patañjali whose *sūtras* (I, 23-27) take God to be the climax of omniscience.[14] Vyāsa (5th century B.C.), while commenting on one of the *sūtras*, clearly anticipates Anselm when he says that God is devoid of a similar excelling agency; if we imagine some other superior being, that one will still be God (cf. Alexander's Ida of the Deity). For him God is the climax of *aiśvarya* (grandeur).[15] The moral argument of Kant has its forerunner in the Karma theory. God is treated as the moral Governor (*Karmādhyakṣa* cf. *Śvet.* UP., VI. 11). In addition to these similarities in the context, we should not forget Udayana (10th century A.D.,) whose *Nyāya-kusumāñjali* advances nine arguments for the existence of God[16] and remains a testimony of advanced discussion on the problem of God's existence. Besides, while taking into the account the arguments against the existence of God (as now popular with Death-of-God

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

theologians) we should give adequate heed to the arguments formulated by the Jainas, the Buddhists, the Sāṁkhyas and the Vaiśeṣikas to that effect.

What is urgently needed is the coordinated effort for some kind of comparative philosophy or religion with cross-disciplinary and sympathetic approach (at least initially in collaboration with Philosophy and Religion departments all over) where one could take up in-depth-study of some of the basic concepts from two or more religions and analyze/interpret them, objectively. We might construct statements about religion which are intelligible within at least two traditions simultaneously. If several of us do such comparative interpretation of religions, in course of time we shall be able to explore almost all the important features of each and every religion. By doing so we shall enrich our own religious traditions and contribute to others as well. Zimmer remarks that when we cross over to other religious traditions and later come back to our own, we come with a new insight.[17] It will be a transcending realization of our own. Such crossing of the frontiers and coming back to our own will give completer view of our religion and prepare us to appreciate others. An appreciative objectivity is very important for understanding other religions and philosophizing. If we are able to do so, that will be, to quote a theologian friend of mine, "a playful and grateful offering to the sacred"[18] for, according to Ghazali, 'reason is God's scale on earth'. When we use it for interpreting religion, it is indeed an offering to Him. Gradually by using reason to 'our' religion and then to 'others' we shall advance from 'philosophical interpretation of religions' to 'philosophical interpretations of (universal) religion'.

References

1. *Mahābhārata, Karṇa-parva*, 69-59; *dhāraṇāt dharmaḥ*
2. *tāpācchedācca nikaṣāt suvarṇamiva paṇḍitaiḥ,*
   parīksya bhikkhavo! grāhyaṁ madvaco na to gauravāt.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

-*Tattva Saṁgraha*, k. 3588.

3. *Buddirhi naḥ pramāṇam sadasatoryāthātmyāvagame,*
-S.B., *Kaṭha* U.P., II, iii. 12.
4. *Muṇḍaka* UP., (III. 2.9); *sa yo ha vai tat param brahma veda brahmaiva bhavati.*
5. Cf. Smith, W.C., *The Meaning and End of Religion, Macmillan* Co., New York , 1962-63
6. Tr. by Greene & Hudson as *Religion Within the Limits of Reason Alone,* pub. 1934, 60.
7. Hegel's book was published in three volumes in 1832; Eng. tr. by E.B. Spiers, London, 1895.
8. Caird, John, *An Introduction to the Philosophy of Religion,* 1880.
9. Descartes, R., *A discourse on Method,* (Meditation III).
10. *yato vā imāni bhūtāni jāyante yen jātāni jīvanti, yatprayantyabhisaṁviśanti tadvijijñāsasva lad Brahmeti, Taittirīya Up., III, i.*
11. *janmādyasya yataḥ, Brahma-sūtra,* I. 1.2.
12. *racanānupatteśca Ibid.,* II. 2.1.
13. Anselm, *Proslogion, ch., 2-4.*
14. *tatra niratiśayaṁ sarvajña-bījaṁ, Yoga-sūtra* : 1.25.
15. *tacca tasyaiśvaryaṁ sāmyātiśaya vinirmuktaṁ, na tāvad aiśvaryāntarea tadatiśayate, yadevātiśayi syāttadeva tatsyāt tasmāt yatra kāṣṭhā prāptiraiśvaryasya sa* Īśvaraḥ; yasya sāmyātiśaya vinirmuktamaiśvaryaṁ sa Īśvaraḥ, *Vyāsa-bhāṣya* on the *yoga Sūtra.* 1.25.
16. *kāryājona dhrityādeḥ padāt pratayataḥ śruteḥ,*
vākyāt saṁkhyāviśeṣācca sādhyo viśvavidavyayaḥ. N.K., V.1.
17. Zimmer, Heinrich, *Philosophies of India,* New York, 1951.
18. Scott, David, C., 'Man : the Teller of Tables', in *Vidyājyoti,* 5 Qtly., May 1978; pp. 213-21.

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Śramana, Vol. 57, No. 3-4
July-December 2006

BUDDHIST ETHICS AND ITS CONTEMPORARY RELEVANCE

Dr. R.K. Gupta*

Buddhism is one of the prime religions of Śramaṇic tradition which has contributed a lot to the Indian culture and ethos. Buddhism is purely an Indian ideology but Buddha did not follow Indian paradigms. Probably he was the first thinker on earth, who introduced the world with a new idea of human nature and its mundane life.

Quintessence of Buddha's ethics is the play of knowledge over desire or destroy it. The teachings of Buddha were oral. They were recollected later on by his followers. The Buddha's code of conduct for the congregation (*Saṁgha*) is called *Vinayapiṭaka*, which is also useful for ascetic or sentient being.

As far as such ethical approaches are concerned the concept of right and wrong, fair and unfair, just and unjust are reflected by either the individuals or by social reactions. So, the central concept of ethics is based on the ideal of social responsibilities. The concept of social responsibility is motivated only by the categorical imperative.

Because it is knowable that human being and society are reciprocally related in as much as human being makes society and society makes human being. Society is network of persons of will.[1] Network Ethics : to co-exist harmoniously with nature and human society. Thus, when we understand society as a whole, then we start working on the Social-Zone. Then we look how to beautify society

* Department of Philosophy T.D.P.G. College, Jaunpur

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

in this process, as we are all interdependent. Aristotle also wrote, "One who is unable to live in society or who has no need of society, it means he is sufficient in himself and must be either beast or God." So, one who completely understand it, he does categorically shoulder his responsibility for the world. This interdependence reveals also that in the empirical world dominated by the intellect everything is relative, conditional, subject to birth and death and therefore impermanent [2]. We are to bring out the logical implication of Buddha's saying from a moral point of view. We cannot frame a universal law in which if we do wrong or misconduct to others then the same would be forwarded to us also.[3]

The Buddhist can take upon himself certain obligations or resolve to keep certain percents. This possesses the quality of humanity (*Vinaya*), moral character (*Śīla*), Forgiveness (*Kṣamā*), Compassion *(Karuṇā)*, Charity (*Dāna*), Renunciation (*Vairāgya*), Non-enmity (*Avaira*).

Accordingly, Buddha prescribed the eight-fold path, that includes (1) Right view (*Samyk-diṭṭhi*), (2) Right-resolve (*Samyak-saṅkalpa*), (3) Right-speech (*Samyak-vāk*), (4) Right-conduct (*Samyak-karmānta*), (5) Right-livelihood (*Samyak-ājīva*), (6) Right-effort (*Samyak-vyāyāma*), (7) Right-mindfulness (*Samyak-smṛti*), (8) Right-concentration (*Samyak-samādhi*).

This is open to the clergy and the laity alike. Right knowledge is the knowledge of 'Four Ārya Truths' and Right resolve means not only to abandon ill-feeling towards others, but also renounce the tendency of committing injurious acts. Right speech is recommended, because some time words are more distressing than swords. This steps requires to restrain ourselves from falsehood, backbiting, harsh language and frivolous talk. Hence to maintain peace in inter-personal relations. Right conduct consist in renouncing of injury, stealing and sexual gratification. Buddhism instructs to adopt moral conduct at every level domestic, social, national and international. Right-livelihood implies the earning by honest means

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

i.e. not to cheat anybody or to adopt corrupt practices. Right-effort includes four sorts of endeavour- (1) not to allow fresh evils, (2) try to obliterate existing evils, (3) try to develop new good idea and virtues. *Samyak-karmānta* or unselfish actions are needed to materialise the resolution. Seventh is Right-mindfulness means constant self-reminder of the nature of spirit and body, of distressing mental states like doubt, sensuality, malice etc. Last is Right concentration, that has four stages. Third is to experience bliss of equanimity and the fourth is the state of absolute cessation of all suffering. This is the Eight-fold Path contained in the Fourth Noble Truths.

In the old books we also find mention of a triple path consisting of *Śīla* or right conduct. *Samādhi* or right concentration and *Prajñā* or right knowledge. They roughly correspond to *Darśana, Jñāna* and *Cāritra* of Jainism.

The *Śīla* consists ten obligations binding upon the priest, forbid; (1) the taking of life. (2) the taking of that which is not given. (3) sexual Intercourse. (4) the saying of that which is not true. (5) the use of intoxicating drinks. (6) the eating of solid food after midday. (7) attendance upon dancing, singing, music and masks. (8) the adorning of the body with flowers, and the use of perfumes and unguents. (9) the use of seats or couches above the prescribed height. (10) The receiving gold or silver.[4]

The first five of these obligations are called *pañcaśīla*. They are repeated by some persons every day at the *pansal*, especially by the women. The first eight are called the *ata-sil*, and they are repeated only on pöyadays, or festivals. These obligations are most usually taken in the presence of a priest, who may either be a *sāmanera* or an *upasampadā*; but they are from an *upāsaka*, without the intervention of a priest.

They may be taken either separately or collectively. When taken to be kept separately, though one should be broken, it does not impair the merit of the rests, but when they are taken to be kept collectively, if one be broken, the whole are impaired.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The *Śīla* purifies whatever proceeds from three doorways of the body, the speech, and the mind.[5] No one is able to tell how great is the reward of *Śīla*. The perfume of the flower spreads only in the direction of the wind, but the greatness of him who possesses *Śīla* spreads on all sides without exception. It is as a ladder by which to ascend to the-*deva loka*; like a gateway that enters upon *nirvāṇa*. 'Buddha's ethical middle path' is like the 'golden mean' of Aristotle.

The Buddhist ethical code springs from *Karuṇā* (compassion). The Buddhist doctrine of *Karuṇā* calls for a trans-valuation of values through a paradigm shift based on enlightened view of reality of life. It calls for a global ethics of obligations, and not of fights, of responsibility and not of capriciousness of care and concern and cosmic fraternity. The following verse quoted by Suzuki (p. 53, non-awakening Faith is highly pertinent in this context;

"Arouse they will, supreme and great,
Practice love and sympathy, give joy and protection,
Thy love like unto space,
Be it without discrimination, without limitation.
Merits establish, not for their own sake,
But for charity universal,
Save and deliver all beings,
Let them attain the wisdom of the great way."

It touches each and every form of existence. Every existence has intrinsic worth and it must be given due respect. So here this should be the implication of the Buddha's saying, "*Bahujana hitāya bahujana Sukhāya*". This realization requires propagation and practice of global ethics. The ideal of globalization should not be confined to material sphere in terms of liberalization of trade and commerce. It has to be given a spiritual orientation. Ethics also has to be spiritualistic aiming at universal well-being based on the enlightened principle of selfsameness of all existence. All life is sacred, meaningful and valuable. In contemporary times the

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Buddhist ethics calls for a new value schema which cares for all and tends all.

Because as the contemporary society of today is not as it was a decades back. They are constantly moving forward with new findings and theses. So Buddhism is engaged in many other new areas like conservation of ecology, environment and other social areas.

The scientists are also always impressed with the Buddhist theory of mind. I quote here a scientist saying : 'It was the historical Arnold Toynbee who predicted that one of the most significant events of the twentieth century would be the spreading of the Buddhism to the west. For modern psychology, that may be so in a special sense : as a discipline we are awakening to be fact that there is a more ancient science of mind, and perhaps a wiser one, than our own, and that its fullest articulation is in Buddhism (Buddhist ethical codes).

The dialogue is not confined to verbal interaction but it entered into laboratory where Buddhist practitioners are examined. The results have been eye opening for the scientists. Western psychologists and cognitive scientists have never imagined that compassion and other positive mental states, when developed could have so strong implication on nervous system. This fact came into light and opened a new chapter for them when they experimented a practitioner in a laboratory. Laboratory experiments on various other aspects are also still going on.

Likewise, His holiness the Dalai Lama preached. Contemporary Indian thinkers like Mahatma Gandhi, Ram Krishna, Nehru, Ambedkar etc. emerged as path finders and they were influenced by Buddha's ethics. Mahatma Gandhi has been recognised as the greatest advocate of the dictum that ends and means are one and the same. As he does believe that the roots of violence are wealth without work, pleasure without conscience, knowledge without character, commerce without morality, science without humanity, worship without sacrifice. His ethics of peace is to be distinguished

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

from the conservative plea for peace at any cost. His concept of peace is integrally related to justice.[6]

Dr. S. Radhakrishnan, the philosopher diplomat, endeavoured to realise man kind's most cherished dream of a peaceful world through his lectures and articles on "One Earth is One family", "The emerging world society", "International peace", "Our nationality is the Human Race".

Jawaharlal Nehru, first prime minister of India, was a firm believer of famous insight of "*Vasudhaiva Kuṭumbakam*" i.e. whole world is a family. He propounded the well known Buddha's ethics of "*Pañcaśīla*", which incorporates five principles of the international code of conduct, leading to peaceful co-existence.[7]

Dr. B. R. Ambedkar favours Buddha's ethics. When Dr. Ambedkar renounced Hinduism he embraced Buddhism. Immanuel Kant also said that there are two things in the world-always the old and the new-the starry sky and the moral law beneath.

All of us want to live a successful life free from tension and worry. The question is how can we achieve it ? Answer lies in adoption of Buddha's ethics. Concepts of interdependence, Eight-fold Path and the *Pañcaśīla* etc. provide and alternative for a better world and human society. Buddha's ethics is the "Sky-lamp" for the contemporary disturbance of the Globe.

References

1. Kaul, R.N. Kaul, *Introduction Social Philosophy, A..*, 1956, p. 202.
2. Hardy, R. Spence, *A Manual of Buddhism*, New Delhi, 1996, p. 220.
3. Rai Chhaya, *India's Contribution to Peace*, Moradabad (India), Darshan International, 1999, Vol. 156, p. 46
4. Hardy, R. Spence, *A Manual of Buddhism*, Aryan Books International New Delhi, 1996.
5. *Visuddhimagga, Niddesī*, p. 7, *Buddhist's ethics and its contemporary relevance.*
6. Girvetx Harryk, (ed.) *Contemporary Moral issue*, Wordsworth Company, California, 1974.
7. Sumitra Purkayastsa, *Business and Professional Ethics, Ibid*, p. 41.

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Śramana, Vol. 57, No. 3-4
July-December 2006

ANEKĀNTAVĀDA : A WAY TOWARDS WORLD PEACE

Dr. Baleshwar Prasad Yadav*

Abstract

The world today is passing through an unprecedented crisis of non-cooperation, non-fraternity and untranquility. All these have marred the heart and mind of human civilisation. Each and every set of ideas seems to be confronted with in its extreme opposition to another one. One is understood to be wrong if one does not accord to me. A country is proved wicked if it does not follow America. The present scenario has unilaterally shifted towards the lack of sound understanding. In this situation, we may look back to Jaina philosophy for its unique contribution to *anekānta* thinking as it shows the rays of hope by broadening the way towards world peace. *Anekānta* philosophy rules out all extremisms and advances the dynamic middle way for restoring peace.

(I)

Anekāntavāda is often rendered as the 'Theory of Relativity'. In its opposition, *ekāntavāda* is translated as the 'Theory of Absolutism.' The former is also explained by the term *syādvāda*. Malliṣeṇa a classical exponent of Jaina Philosophy explains it as follow : " The particle - '*syāt*' signifies manifoldness. Therefore, *syādvāda* is *anekāntavāda,* the doctrine of manifoldness. And that means the acceptance of the view that a single entity is variegated by many and various attributes or properties (*dharma),* viz., eternal,

* Lecturer, Department of Philosophy, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

non-eternal etc."[1] We may say it otherwise also that reality is manifold and each entity has a manifold nature - consists of diverse forms and modes of numberless aspects.

The knowledge which determines the complete meaning of an object through the employment of one-sided knowledge is partial knowledge. Hence, we should rule out all absolute judgments, otherwise truth would be violated. A valid knowledge is defined as that which gives us knowledge of a thing in its various aspects. All expressions are somehow real. All objects are of multiple characters, hence all things are multi-dimensional[2] or *anekāntika* views. Views of *anekānta* (The Jaina theory of multiple facets of reality and truth) may be characterized as follows :

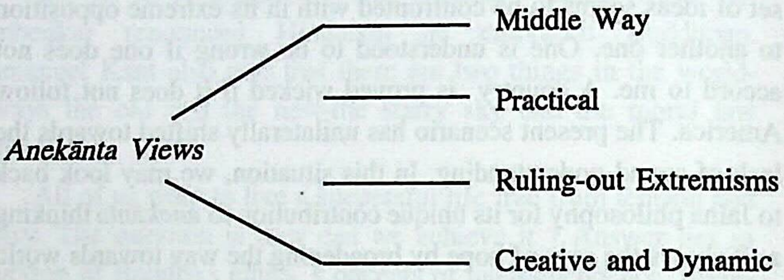

Thus, this view is regarded as the balanced and synthetic one including all facets of understanding and ruling-out any prejudiced and unilateral dominance of the ideas or thought. Absolute is ideal and it cannot be reached or accessed easily, while *anekānta* supplies feasible and dynamic method and understanding to tackle the problems of every sort and broadens the ways for development and prosperity. It has the characteristic to include all aspects of knowledge and understanding.

(II)

Over-organised outfits (political, social or voluntary) supported by ideological fanaticism present their sectarian thoughts of their blind minds as the final truth, while the nature of truth as per *anekāntavāda* should be dynamic and of creative attitude. It is fatal

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

to treat the relative and the home-made as if they were the Absolute. It is only intellectual clarity which will resolve all conflicts and rivalry. All dogmatic ideas owe their genesis to the partiality of outlook and fondness for a line of thinking to which a person has accustomed himself and confined himself to an inert particularity. This leads one to imperialism and aggressiveness in thought.

Today, one man or one country fights with other because their views are dashed against each other, their interest are not rescued and they are challenged by raw or immature understanding of selfishness. Their views are bound to vary because they are guided by different conditions, thoughts and attitudes. Hence, it is unjust to put one to the right side of things and others to the false side. It is difficult enough to make any decision free from partiality. Here, *syādvāda-anekāntavāda* represents the highest form of impartial and synthesized views to solve the problem of conflicts which wonderfully deserves the gist of creativity and ruling-out any misdeeds treating and causing harms to peace and tranquility to the individuals and the nations. It provides a compromising middle way for development and opens the door of opportunity of negotiations. Lack of understanding and emphasizing extremism cause several 'isms' and conflicts among the individuals and the nations. The philosophy of *anekāntavāda'* supplies there the notion to learn - 'Live and let live.'

(III)

Today, world peace is dangered from all sides of ideas and preparations. We cannot make ourselves safe by enhancing defense-budget, by proliferation of arms, crushing others and enriching our resources through *usurpation*, or by dominating over indigenous, international and universal means of power and destruction. But, we can make ourselves and other people safe by developing and following the philosophy of *anekānta*, which will be universally required to fulfill the goal of "Live and let live". It

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

is *anekānta* which only can lead us help to restore the world-peace. It can enliven friendship with all - based on equality and the desire to solve problems mutually.

References :

1. *syādityavyayam anekānta-dyotakaṁ tataḥ syādvādo nekāntavādaḥ/ nityānityādyaneka-dharma-śAalaika-vastvAhyupagama iti yāvat/* Vide Malliṣeṇa, *Syādavādamañjarī*, 5ff., (Ed.) Dhruva, A.B., Bombay, 1933. Also vide, Mehta, Dr. Mohanlal, *Jaina Dharma Darśana : Ek Samkṣātmaka Paricaya* (Bangalore : Seth Mootha Chhaganmal Memorial Foundation 1999), p. 359.
2. B.K. Matilal, a modern exponent of Jaina Philosophy, states that *anekānta* views include both 'Yes' and 'No', But it does not mean at all that it has negative approach to consider things. It only points out towards the consideration for even the negative points whether it has some attributes or not, and which creativity can it do. And, thus by such round-up of considering thing makes us aware of some aspects of even the 'Negative'. For details vide chapter - 1. in Shah, Nagin J., *Jaina Theory of Multiple Facets of Reality and Truth (Anekāntavāda)*, pp 1-16.

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Śramana, Vol. 57, No. 3-4
July-December 2006

THE JAINA TANTRIC YANTRAS

Lalit Kumar *

The *Tantra* deals with works of magical and mystical formularies, which treat the subject like the creation, destruction of the world, the worship of the god, the attainment of all objects (especially super human faculties) and in the union with the supreme spirit by meditation. This is how the word *Tantra* is defined in the Sanskrit-English Dictionary of Monier Monier-Williams. The Jaina *Tantra* specializes in Mantric practices, which are fairly old. In the Jaina tradition, it is held that Mahāvīra himself was an extraordinary Mantric and had converted many persons in his fold. Similar stories are also related to Buddha. In Jainism, the *Tantraśāstra* did not develop to the extent as it had developed in the case of Buddhism and Hinduism.

The *Mantraśāstra* promised destruction of the *karmas* in Jainism. But in course of time, Mantric and Tantric powers were cultivated for lower and selfish gains. A number of such *mantras* also evolved in Jaina religion, of which *Bhairava-padmāvatī-kalpa* is a well known example.

In the present context the term *mantra* means a tool or a formula such as a *Mantra-Yantra* or a *Mantra-Tantra.* Pictorial depiction of these diagrams on paper or cloth is generally referred to as *Mantra-Yantra paṭas.*

The *Yantra-paṭas* are the objects of meditation. Of all the mystic diagrams and the *mantra,* the most important and oft-repeated *mantra* of the Jainas, is the *Pañcanamaskāra* or *Navakāra mantra.* It calls for homage to the five most revered ones *Parameṣṭhins* (those who are situated in the highest stage) : 'Homage to the omniscient ones (*Arhat*), Homage to the liberated

* Director Recoworat India 31, Satyam Bunglow, Vastrpur, Ahmedabad.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ones (*Siddha*), Homage to the teachers (*Āyariya*), Homage to the preceptors (*Uvajjhāya*), Homage to all monks (*Sāhū*) in the world. The earliest reference to the *Pañcaparmeṣṭhins* is found, in part, in about the first century B.C. Later, it was expanded into the five invocations by Puṣpadanta in about the second century A.D. Mānatuṅgācārya (c. late six century A.D.) compòsed the *Navakārasarathavana*. This *mantra* is believed to burn away the karmic knots and helps in liberation. But new elements were added to the rituals, gradually. The most important being the *Navapada*, it constitutes the *Pañcaparameṣṭhins* and four doctrinal principals of right knowledge (*samyak-jñāna*), right faith (*samyak-darśana*), right practice (*saṁyak-cāritra),* and right austerity (*samyak-tapa*).

The emergence of tantric elements in Jaina hymnic literature is very well analysed by Prfo. M.A. Dhaky. He writes, "...a whole class of hymnic literature began to appear which is overtly magical, pretending at first to the curing of ailments, snake bites, etc., but eventually went as far as acquiring supernatural powers and dialectical skills (for the monks) and obtaining worldly wealth (for the lay followers). This mantric and tantric trend entered and took firm root in the Nirgrantha Church, despite injunctions against magic, sorcery, prognostications and prophesies in the early Āgamas.[1] He goes on to add, "under the influence of prevailing religious climate and popular orientations in post-Gupta times, it soon became tantric (as was the case a little earlier with the Buddhists). A plethora of tantric hymns as a consequence is known both from the northern as well the southern Nirgranth Church."

The *Navapada* or the *Siddhacakra* is one of the most popular *yantras* of the Jainas. It is the circle of the liberated ones. It is believed to be the most auspicious of all the auspicious things. The *Śrīpālarāsa,* a very popular story, relates the magical power of the *Siddhacakra.* It says, "Those without wealth attain riches and the childless get sons, none except the enlightened can appreciate the *Siddhacakra".*

A basic diagram of the *Siddhacakra* consists of the four lotus petals attached to a circle in the centre. It is occupied by the Arihanta who is seated in *padmāsana* under an umbrella. Above

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

his is shown the *Siddha* in red colour. On the right is shown the *Ācārya* in yellow, to the left *Upādhyāya* in blue and at the bottom *Sādhu* in black. Remaining four petals, in the inter-mediary directions, are inscribed with the salutations to the four doctrinal principals of right knowledge, faith, practice and austerity. In the Digambara scheme these are replaced by *Jina* image, *Jina* temple, *dharmacakra* and the *śruta* (the scripture).

The *Ṛṣimaṇḍala*, the *Vardhamāna-vidyā* and the *Sūrimantra* are the three most popular tantric diagrams worshipped by the monks. The *Vardhamāna-vidyāpaṭas* mostly date from the middle of the thirteenth century; but its antiquity can be traced back to the first century A.D.[2] The *Vardhamāna-vidyā* is recited on the occasion of conferring the title of an *upādhyāya* on a Jaina monk. In the *Vardhamāna-vidyāpaṭa,* the principal figure of Mahāvīra Vardhamāna occupies the central position. Similarly in the *Sūrimantra,* the obeisance is paid to Gautama, who occupies the central position in the diagram. The *Ṛṣimaṇḍala Yantra* incorporates all the twenty-four *Jinas* along with the *pañcaparameṣṭhins.* In this *yantra* the twenty-four *Jinas* are shown seated on the figure of *Om hrīṃ* in the centre. *Oṃ hrīṃ* is the key syllable which is derived from *Oṃ arhaṃ.* It represents the *pañcaparameṣṭhins.* It is a beautiful depiction of the two major elements mentioned above of the *Ṛṣīmaṇḍala -yantra.* This *yantra* also incorporates a number of syllables and antonations including the thirty-two enigmatic syllables beginning with *kmlvṛyuṃ* to *Kṣmlvṛyuṃ* (it excludes *ña* and *la*). All these *bīja-mantra* and *kūṭākṣaras* are common to both the Hindu and the Buddhist mystic diagrams.

Besides the *Navakāra* and mystic syllables, the Jaina *mantra* and *yantra* (*paṭas)* also incorporates *Yakṣa-yakṣī, Vidyādevīs, Dikapālas,* and *Navagrahas.* Brahamanical dieties like Śiva, Brahmā, Bhairava, Sixty-four yoginis have also made their way in various mystic diagram of the Jainas in the later medieval period.

*

1. M.A. Dhaky, "The Jina image and the Nirgrantha agamic and hymnic imagery", in the *Śāstric Tradition in Indian Art,* Heidelberg, 1985, 104.
2. U.P. Shah, "*Vardhamāna-vidyā Paṭa*", JISOA, Vol. IX, 1941, 50-51.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

जैन जगत्

अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक युवक महासंघ का मुम्बई में युगान्तरकारी अधिवेशन सम्पन्न

एकता, संगठन, सेवा, सुखकारिता व स्वधर्मी भक्ति के संकल्प के साथ सुदेव-सुगुरु-सुधर्म की छत्रछाया में अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक युवक महासंघ का यशस्वी युगान्तरकारी सातवां राष्ट्रीय अधिवेशन १६ व १७ सितम्बर, २००६ को श्री आदीश्वर भगवान जैन मंदिर, भायखला, मुम्बई के प्रांगण में अपूर्व हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ।

परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री राजयशसूरीश्वर जी म.सा., परम पूज्य पंन्यास प्रवर श्री मुक्तिसागर जी म.सा., परम पूज्य पंन्यास प्रवर श्री अभयरत्नसागर जी म.सा., परम पूज्य पंन्यास प्रवर श्री राजहंस विजय जी म.सा., परम पूज्य पंन्यास प्रवर श्री जयप्रभ विजय जी म.सा., परम पूज्य मुनि श्री नयपद्मसागर जी म.सा. आदि गुरुभगवंतों की पावन निश्रा में १६ सितम्बर की प्रातः १०.०० बजे अधिवेशन का शुभारम्भ हुआ। सभामण्डप का उद्घाटन गुरु भगवंतों की निश्रा में महासंघ पदाधिकारियों ने फीते में लगी गांठ खोल कर किया। परम पूज्य आचार्य प्रवर श्रीराजयशसूरीश्वर जी म.सा. के मंगलाचरण के तुरन्त बाद समवेत रूप से मंगल दीप प्रज्वलित किया गया।

मुम्बई युवक महासंघ के अध्यक्ष श्री भरतभाई शाह ने अपने स्वागत भाषण में अधिवेशन में पधारे सभी प्रतिनिधियों का स्वागत किया। युवक महासंघ के राष्ट्रीय महामंत्री श्री भंवरलाल दोशी एवं राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री ललित कुमार नाहटा ने अपना उद्बोधन दिया।

इन्दौर से पधारे ह्रींकार गिरि तीर्थ के संस्थापक श्री नवीनभाई कोठारी (पेनजॉन वाले) ने पूज्य मुनि श्री का अगला चातुर्मास ह्रींकार गिरि तीर्थ में तथा युवक महासंघ का आठवां राष्ट्रीय अधिवेशन इन्दौर में करने का निवेदन किया। परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री राजयशसूरीश्वर जी म.सा. ने अधिवेशन में पधारे प्रतिनिधियों को संबोधित करते हुए कहा कि हमें एकता के संदर्भों को पुनः रेखांकित करना होगा। परम पूज्य पंन्यास प्रवर श्री राजहंसविजय जी म.सा. ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युवक महासंघ की मुक्त हृदय से प्रशंसा की।

दूसरे दिन १७ सितम्बर को दीप प्रज्वलन के साथ प्रथम सत्र आरंभ हुआ। आज परम पूज्य गुरुदेव श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर जी म.सा. की ५२वीं स्वर्गारोहण तिथि थी। श्री सुमेरमल जी बाफना एवं अन्य वक्ताओं ने गुरु वल्लभ का स्मरण किया। परम पूज्य पंन्यास प्रवर श्री मुक्तिरत्नसागर जी म.सा. का उद्बोधन हुआ– कैसे करें जीवन का जीर्णोद्धार? विधायक श्री मंगलप्रभात जी लोढ़ा ने कहा कि जैनों का राजनीति में प्रवेश व वर्चस्व आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

निर्वाचित सभी पदाधिकारियों का तिलक कर, साफा पहनाकर सम्मान किया गया। इसके उपरान्त मुम्बई युवक महासंघ द्वारा अधिवेशन के मुख्य लाभार्थी श्री चम्पालाल जी किशोरचन्द्र जी वर्धन, जैन डॉक्टर्स फेडरेशन के पदाधिकारियों तथा श्री पारसमल जी गुंदेचा का जिन प्रतिमा के रूप में स्मृति चिह्न अर्पित कर सम्मान किया गया। महासंघ की मासिक पत्रिका 'युवक महासंघ' के प्रवेशांक का विमोचन श्री प्रकाश जी कानूंगो के करकमलों से सम्पन्न हुआ। इसी शृंखला में छ:रीपालित संघ के ऐतिहासिक आयोजन के लिए राष्ट्रीय महामंत्री श्री भंवरलाल जोशी का सम्मान किया गया।

दोपहर के भोजनावकाश के बाद दूसरे दिन का दूसरा सत्र आरंभ हुआ। परम पूज्य आचार्य श्री श्रेयांससूरीश्वर जी म.सा. ने जैन शासन में युवकों की भूमिका पर गुजराती में उद्बोधन दिया।

अपने प्रथम अध्यक्षीय उद्बोधन में नवनिर्वाचित राष्ट्रीय अक्ष्यक्ष श्री गौतम पी. जैन, चेन्नई ने सभी को धन्यवाद देते हुए, सभी का आभार मानते हुए कहा कि हम युवक महासंघ को ऊंचाई पर ले जायेंगे।

इसी के साथ श्रेष्ठ कार्य सम्पादन के लिए वार्षिक सम्मानों की घोषणा हुई। राज्यस्तर का सम्राट सम्प्रति सम्मान युवक महासंघ, दिल्ली को; जिला स्तर का मंत्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल सम्मान युवक महासंघ, सूरत को तथा इकाई स्तर का भामाशाह सम्मान अहमदाबाद की अम्बावाड़ी इकाई को प्रदान किया गया। दो व्यक्तिगत सम्मान के रूप में श्री ललित जी दुगड़, जयपुर को श्रेष्ठ युवक रत्न सम्मान तथा श्री मुकेश डी. वर्धन, मुम्बई को युवक रत्न सम्मान से सम्मानित किया गया।

मुम्बई युवक महासंघ के महामंत्री श्री प्रकाशभाई शाह ने सभी के प्रति धन्यवाद ज्ञापित किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain, Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री आदिनाथ जैन ट्रस्ट द्वारा आयोजित निःशुल्क कृत्रिम अंग वितरण शिविर

चेन्नई, आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चूलै, चेन्नई एवं भगवान महावीर विकलांग सहायता समिति जयपुर, कोटा, चेन्नई के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित सातवें पन्द्रह दिवसीय निःशुल्क कृत्रिम अंग वितरण शिविर का आयोजन आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चेन्नई द्वारा तारीख १५.७.२००६ से २९.७.२००६ तक श्री मालू जैन भवन, चूल्लै, चेन्नई में रखा गया था। इस अवसर पर अरुण विजयजी म.सा. एवं साध्वी श्री सुलोचणाश्रीजी, श्री सुलक्षणाश्रीजी आदि ठाणा की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

इस शिविर में व्हिल चेयर १३०, ट्राईसाईकिल १८४, वाल्कर १७, श्रवणयंत्र ५३८, केलीपर्स HKFO 308, KAFO 1709, AFO 556, KB 898 A.K. 384, कृत्रिम हांथ १०८, वैशाखी ५८९, केनीगार्ड ११, रेसिगशूज ४५, हेन्डस्पलेन्ड ३६, ब्रेस १ वाल्कींग ९८५, वाल्कींग स्ट्रीक वाल्कर-७३४, ऐसे मिला कर ७२३५ लोगों को सहायता पहुँचाई गई। राज्य सभा के अध्यक्ष आवडीयप्पन के साथ जैन तथा वैष्णव समाज के अनेक गणमान्य व्यक्ति मौजूद थे। श्री आवडीयप्पन ने इस शिविर का अवलोकन किया और आदिनाथ जैन ट्रस्ट के मोहन-मनोज की भी सराहना करते हुए कहा कि एक दिन में अपाहिज लोगों का इलाज सरकारी अस्पताल में नहीं होता। बिना अस्पताल के आदिनाथ जैन ट्रस्ट ने पूरे राज्य के लोगों का इलाज करके जैन समाज का नाम रोशन किया। इस शिविर के समापन दिन तमिलनाडु के राज्यपाल श्री सुरजीत सिंह

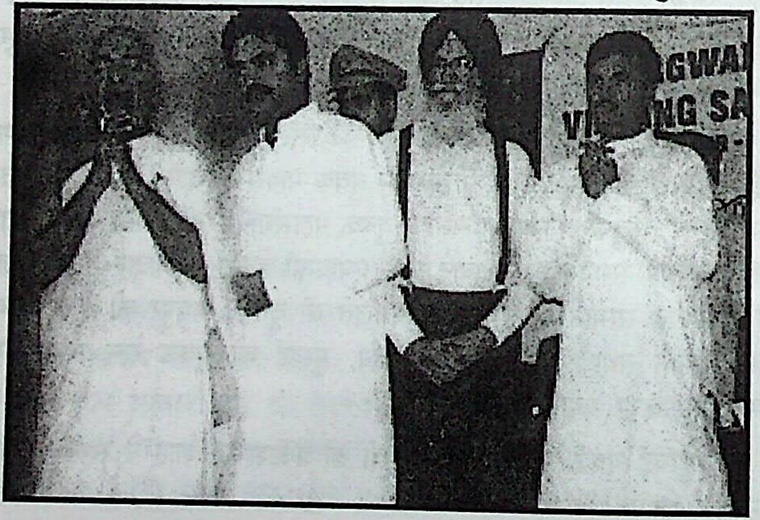

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बरनाला ने पूरे शिविर को देखा और अपने हाथों से विकलांगों को कृत्रिमअंग, कैलीपर्स, वैशाखियां आदि वितरण किया।

कार्यक्रम का शुभारम्भ अरुणविजयजी म.सा. ने मंगलाचरण से किया। मंगलाचरण के बाद उन्होंने अपने प्रवचनों में प्रत्येक व्यक्ति को भगवान महावीर के बताये रास्ते पर चलने को प्रेरित किया। उन्होंने प्रदेश सरकार की आलोचना करते हुए कहा कि प्रदेश सरकार पशु हिंसा एवं मांसाहार को बढ़ावा दे रही है। उन्होंने राज्यपाल से अनुरोध किया कि वे इस आदेश को बदल दें और राज्य को शुद्ध शाकाहारी बनाने का प्रयास करें।

श्री हसमुख जैन गांधी 'युवारत्न' से सम्मानित

भगवान गोम्मटेश्वर बाहुबली महामस्तकाभिषेक महोत्सव २००६ के अवसर पर महोत्सव राष्ट्रीय समिति एवं मध्यांचलीय कलश आवंटन समिति के माध्यम से किये गये उत्कृष्ट कार्य हेतु **जगत् गुरु स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी महाराज** द्वारा १६ जुलाई को श्रवणबेलगोला में आयोजित भव्य एवं गरिमापूर्ण कार्यक्रम में सहस्राधिक भक्तों एवं वरिष्ठ सामाजिक नेतृत्व की उपस्थिति में दिगम्बर जैन समाज के अग्रणी युवा नेता श्री हसमुख जैन गांधी को **'युवारत्न'** की उपाधि से सम्मानित किया गया। ये क्षण सम्पूर्ण म.प्र. एवं छत्तीसगढ़ हेतु गौरवपूर्ण थे। इस अवसर पर पूज्य मुनि श्री अमितसागर जी महाराज एवं अन्य अनेक संगगण भी उपस्थित थे। इस अवसर पर अपने आशीर्वादात्मक संबोधन में पूज्य स्वामीजी ने कहा कि वे वर्ष २००६ में सम्पन्न हुए समारोह के समान ही वर्ष २०१८ में होने वाले महामस्तकाभिषेक समारोह में कोई राष्ट्रीय दायित्व का निर्वहन करें। सैकड़ों भक्तों की उपस्थिति में इस अवसर पर श्री हसमुख गांधी को बधाइयाँ प्रेषित की गईं।

ज्ञातव्य है कि श्री हसमुख जैन गांधी दि. जैन महासमिति मध्याचंल के अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय संयुक्त महामंत्री के रूप में अपनी सेवायें देने के उपरान्त वर्तमान में दिगम्बर जैन सोशल ग्रुप फेडरेशन के उपाध्यक्ष के रूप में अपनी सेवायें प्रदान कर रहे हैं। आपके संयोजकत्व में प्रकाशित दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र निर्देशिका को सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज द्वारा बहुत सराहा गया। उद्योग व्यापार के क्षेत्र में भी आप म.प्र. कोल्ड स्टोरेज एसोसियेशन तथा म.प्र. फर्टिलाइजर एसोसियेशन के सचिव के रूप में अपनी सेवायें प्रदान कर रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महासती श्री विजयश्री जी म.सा. 'आर्या' की पी-एच.डी. की मौखिक परीक्षा सानन्द सम्पन्न

फरीदकोट, दि. ९.९.०६, आगम विज्ञाता पूज्या महासती श्री विजयश्रीजी म.सा. की पी-एच.डी. की मौखिकी परीक्षा हेतु पधारे पूर्वांचल विश्वविद्यालय के रीडर डॉ. अरुण प्रताप सिंह एवं लाडनूं विश्वविद्यालय के रीडर डॉ. अशोक कुमार जैन का श्री संघ, फरीदकोट की ओर से सम्मान किया गया। फरीदकोट के प्रधान डॉ. सुभाष जैन के नेतृत्व में यहाँ के समस्त पदाधिकारियों ने इन महानुभावों का माला, शाल एवं प्रतीक चिह्न देकर स्वागत किया। महासती विजयश्रीजी ने आप लोगों को अपना साहित्य भेंट स्वरूप प्रदान किया। इस अवसर पर फिरोजपुर के प्रो. श्री नविस्तलालजी जैन ने महासतीजी की शिक्षा के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों की जानकारी दी। डॉ. अशोक कुमारजी जैन ने महासती जी के शोधकार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए श्री संघ के सदस्यों को ऐसे दुर्लभ ऐतिहासिक ग्रंथ को प्रकाशित करवाने की प्रेरणा दी। डॉ. अरुण प्रताप सिंह ने अपने वक्तव्य में कहा कि मैं इस ग्रंथ को देखकर पहली बार में ही प्रभावित हो गया था। दस हजार श्रमणियों के योगदानों का संकलन कर महासतीजी ने एक अभूतपूर्व भेंट जिनशासन को दी है। महासती विजयश्रीजी म.सा. ने अपने शोधकार्य को डॉ.

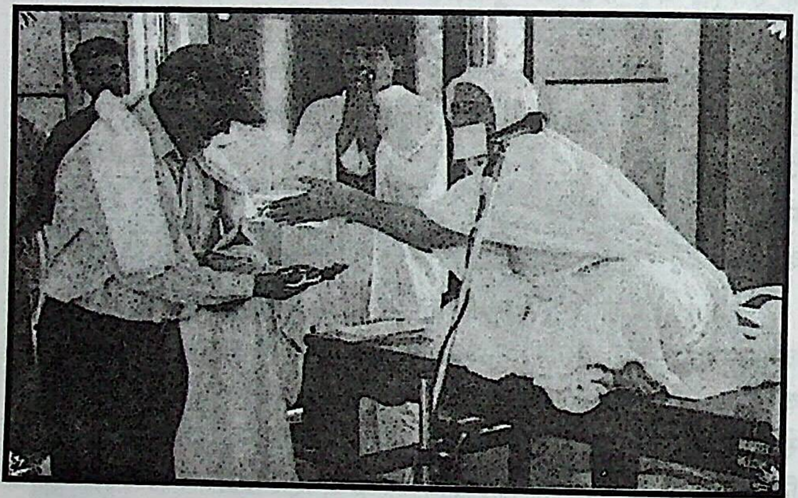

सागरमलजी जैन, निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के कुशल निर्देशन एवं गुरुजनों के आशीर्वाद से सम्पन्न होना बताया साथ ही साध्वी जीवन के अनेक मुद्दों पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला। साध्वी प्रतिभाश्री जी ने अपनी गुरुणी के अथक परिश्रम लगन और इस मार्ग में आने वाली अनेक कठिनाइयों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का जिक्र किया। सभा का सुंदर संचालन संघ के मंत्री श्री विक्रम जैन ने किया।

दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ प्रदर्शनी

दशलक्षण पर्व के अन्तर्गत २ सितम्बर से ८ सितम्बर तक खण्डेलवाल भवन, छिंदवाड़ा में अनेकान्त ज्ञान मंदिर शोध-संस्थान, बीना द्वारा दुर्लभ, हस्तलिखित ग्रन्थ प्रदर्शनी का अनूठा आयोजन किया गया। प्रदर्शनी में १५०० वर्ष प्राचीन ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियां, ७०० वर्ष प्राचीन ग्रन्थ, सचित्र पाण्डुलिपियां, काष्ठफलक, आमंत्रण पातियां, पोस्टकार्ड पर अंकित तत्त्वार्थसूत्र के दस अध्याय, स्वर्णलिखित भक्तामर स्तोत्र आदि बहुमूल्य अनमोल कृतियों को देखने के लिए जैन समाज के अलावा जैनेतर बन्धुओं का उमड़ा जनसैलाब नगर में चर्चा का विषय बना रहा। प्रदर्शनी में प्रदर्शित सामग्री को देखकर हर द्रष्टा ने अनेकान्त ज्ञान मंदिर शोध संस्थान, बीना के 'शास्त्रोद्धार शास्त्र सुरक्षा अभियान' क़े कार्यों की दिल खोलकर सराहना करते हुए अपना यथायोग्य सहयोग भी प्रदान किया। संस्थान द्वारा प्रकाशित साहित्य की भी खूब सराहना हुई।

संस्कृत, प्राकृत एवं हेमसाहित्य के प्रकाण्ड विद्वान प्रो. सत्यरंजन बनर्जी श्री हेमचन्द्राचार्य चन्द्रक पुरस्कार से सम्मानित

अहमदाबाद, २४.९.०६ को प्राकृत एवं संस्कृत के विशिष्ट विद्वान प्रो. सत्यरंजन बनर्जी को श्री हेमचन्द्राचार्य चन्द्रक पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार पूज्यपाद जैनाचार्य श्री विजय सूर्योदय सूरीश्वर जी तथा उनके शिष्य आचार्य श्री विजय शीलचन्द्रसूरि की प्रेरणा से कालिकाल सर्वज्ञश्री हेमचन्द्राचार्य की नौवीं जन्मशताब्दी पर स्थापित ट्रस्ट द्वारा दिया गया। इस अवसर पर अनेक विद्वान एवं गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

बी० एल० इन्स्टीट्यूट, दिल्ली में भारतीय योग परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जैन योग विषयक त्रिदिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति मन्दिर, दिल्ली तथा श्री जैन नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ ट्रस्ट के संयुक्त तत्त्वावधान में दिनांक ७-९ दिसम्बर २००६ को नई दिल्ली स्थित इण्डिया इंटरनेशनल सेन्टर में **भारतीय योग परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जैन योग** विषयक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ। इसमें देश-विदेश से ६० से अधिक विद्वानें ने भाग लिया तथा २६ विद्वानों ने अपने शोध-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्र प्रस्तुत किये। जो विद्वान इस संगोष्ठी में उपस्थित रहे उनमें मुख्य हैं- स्वामी वेद भारती, डा० नामवर सिंह, डा० जे० बी० शाह, प्रो० दयानन्द भार्गव, प्रो० क्रिस्टोफर के० चैपेल, प्रो० लारा कार्नेल, प्रो० पिओत्र बल्कोविज, समणी मल्लिप्रज्ञाजी, प्रो० विमला कर्णाटक, प्रो० कोकिला शाह, प्रो० शशिप्रभा कुमार तथा समणी मंगलप्रज्ञा आदि।

प्राकृत भाषा के संवर्धन में वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार) का सराहनीय योगदान

प्राकृत भाषा और उसका बहुविध साहित्य संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी रही है। प्राकृत भाषा में जहां जैन साहित्य

के समस्त मूलग्रंथ निबद्ध हैं वहीं उच्चकोटि के धर्म-निरपेक्ष साहित्य भी हैं । किन्तु इस भाषा का दुर्भाग्य रहा है कि इसे वह प्रतिष्ठा नहीं मिली जिसकी यह अधिकारिणी है। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि यह विषय आज भी संघलोक सेवा आयोग तथा कई प्रदेशों की राज्य लोक सेवा आयोग की परीक्षा के लिये चयनित विषयों में अपना स्थान नहीं बना सका। बिहार प्रदेश के कई विश्वविद्यालयों में इस विषय की पढ़ाई इन्टरमीडिएट स्तर तथा (स्नातक महाविद्यालयों में) विश्वविद्यालय स्तर पर सन् १९५५-५६ से हो रही है। किन्तु अपरिहार्य कारणों से बिहार इण्टरमीडिएट शिक्षा परिषद् से प्राकृत का नाम हटा दिया गया था। कुछ विद्वानों के अथक प्रयासों के कारण पुनः प्राकृत को एक विषय के रूप में प्रतिष्ठापित किया जा सका। वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय के प्राकृत एवं जैन शास्त्र विभागाध्यक्ष प्रो० रामजी राय ने इस प्राकृत भाषा को उसका उचित स्थान एवं सम्मान दिलाने का बीडा उठाया है। इस कार्य में उन्हें विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० रामपाल सिंह, प्रतिकुलपति प्रो. देवमुनि प्रसाद तथा उनके सहयोगियों- प्रो० चन्द्रदेव राय, प्रो० जटाशंकर ठाकुर, डा० कामिनी सिन्हा, प्रो० श्रीराम ओझा, प्रो० रामजनम शर्मा, प्रो० सुदर्शन मिश्र आदि का उन्हें पूरा समर्थन मिल रहा है। प्रो० राय ने अपने सद्प्रयासों से प्राकृत को कई महाविद्यालयों में नये विषय के रूप में मान्यता दिलाकर प्राकृत का पठन-पाठन प्रारम्भ करवाया है। प्रो० रामजी राय इस सद्कार्य हेतु बधाई के पात्र हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर कुँअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा द्वारा जारी अधिसूचना

विश्वविद्यालय द्वारा जारी एक विज्ञप्ति के अनुसार–

विद्वत् परिषद् के दिनांक ७.३.२००५ के प्रस्ताव पर अभिषद् की बैठक ने दिनांक ७.१.२००६ को निर्णय लिया कि मानविकी, समाज विज्ञान, वाणिज्य तथा विज्ञान संकाय में उत्तीर्ण स्नातकों को स्नातकोत्तर **प्राकृत एवं जैन शास्त्र विभाग** में नामांकन की स्वीकृति प्रदान की जाती है।

श्री कृष्ण कुमार करण को पी-एच०डी० उपाधि

श्री कृष्णकुमार करण, सहायक विज्ञान शिक्षक, क्षत्रिय उच्च महाविद्यालय, फतेहपुर, पटना को वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा द्वारा उनके शोध-प्रबन्ध **"अपभ्रंश-काव्य करकण्डचरिउ का सांस्कृतिक अध्ययन"** पर पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गयी है। आपने अपना शोध-प्रबन्ध प्रो० रामजी राय, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैन शास्त्र बिभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा के कुशल निर्देशन एवं मार्गदर्शन में पूरा किया।

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन में डा० सुदर्शन मिश्र पुरस्कृत

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में दिनांक ४-६ नवम्बर को आयोजित ४२वें आल इण्डिया ओरियेन्टल कान्फ्रेन्स में हजारों विद्वानों के साथ सहभागी डा० सुदर्शन मिश्र. प्रधानाचार्य, ब्रह्मर्षि सहजानन्द सरस्वती महाविद्यालय, बचरी-पीरो, (वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा) को उनके शोध-पत्र की उत्कृष्टता के आधार पर मुनि पुण्यविजय पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया। सम्मेलन के महासचिव ने उक्त पुरस्कार प्रमाण-पत्र के साथ डा० मिश्र को प्रदान किया। ध्यातव्य है कि डा० मिश्र संस्कृत, प्राकृत एवं जैन दर्शनके सम्मानित विद्वान हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में ''श्रमण परम्परा का भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन को अवदान'' विषयक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

वाराणसी। २३-२५ दिसम्बर, २००६, संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली के सहयोग से पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र (संस्कृति विभाग), वाराणसी के संयुक्त तत्त्वावधान में **''श्रमण परम्परा का भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन को योगदान''** विषयक एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में किया गया जिसमें देश के कोने-कोने से लगभग ५० विद्वानों ने भाग लिया। संगोष्ठी का उद्घाटन भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के सदस्य सचिव **प्रो० एस० आर० व्यास** ने किया। आपने अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में संस्कृति के संरक्षण में आम जन एवं युवा बुद्धिजीवियों की भागीदारी पर जोर देते हुए कहा कि भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन का विकास विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक सहयोग एवं उनके अच्छे गुणों के ग्रहण एवं बुराइयों के त्याग से ही सम्भव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संगोष्ठी के मुख्य अतिथि **श्री वी० वी० सिंह विश्नेन**, मण्डलायुक्त वाराणसी ने कहा कि श्रमण परम्परा के मूल्य एवं आदर्श आज के सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों से निपटने एवं अच्छे समाज के निर्माण में अत्यन्त प्रभावी हो सकते हैं। वर्तमान समय में व्याप्त भय एवं असन्तोष के वातावरण में श्रमण दर्शन एक नई रोशनी दिखा सकता है जिसके लिए हम बुद्धिजीवियों को आगे आना होगा।

संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन करते हुए **प्रो० सागरमल जैन**, सचिव, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने कहा कि भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अन्य संस्कृतियों के पारस्परिक आदान-प्रदान के पक्षों को सही ढंग से उद्घाटित करना होगा। प्रोफेसर जैन ने कहा कि श्रमणों का मुख्य कार्यक्षेत्र ही पर्यटन रहा है जिसमें चातुर्मास को छोड़कर वर्ष के शेष आठ महीनों में प्रत्येक श्रमण को निरन्तर भ्रमणशील रहने का विधान किया गया है जिससे उनके मन में आसक्ति का त्याग हो और देश की विभिन्न भाषाओं एवं लोक संस्कृतियों को जानने और समझने का अवसर प्राप्त हो सके।

विशिष्ट वक्ता के रूप में जैन विश्व भारता संस्थानी, लाडनूं, (राजस्थान) के पूर्व कुलपति **प्रो० रामजी सिंह** ने वाराणसी को भगवान शिव, महात्मा बुद्ध एवं भगवान पार्श्वनाथ की त्रिवेणी से सम्बोधित करते हुए श्रमण परम्परा, वैदिक संस्कृति एवं लोकायत की त्रिवेणी को भारतीय संस्कृति का मूलाधार बताया। प्रो० सिंह ने इस बात पर जोर दिया कि हठधर्मिता और कट्टरवाद भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के कभी भी वाहक नहीं बन सके, इसीलिए सापेक्षतावाद के सिद्धान्त पर चलकर ही सामाजिक वर्ग संघर्ष से मुक्ति एवं व्यक्ति के नैतिक जीवन का विकास किया जा सकता है। व्यक्ति को ज्ञान क्षेत्र की तरह भाव क्षेत्र में भी सापेक्षता का सिद्धान्त अपनाना होगा, क्योंकि आग्रहपूर्वक विचारों की अभिव्यक्ति ही हिंसा है और जैन दर्शन तथा गाँधी दर्शन ने अहिंसा का संदेश देकर समाज को एक नई दिशा दी है जिसकी वर्तमान विश्व को सबसे अधिक जरूरत है।

उद्घाटन-सत्र में पाँच महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों- *Universal Massage of Lord Mahāvīra* by Shri Dulichand Jain, *Kaṣāyapāhuḍa* (English Translation), *Advance Glossary of Jaina Terms* by Dr. N. L. Jain, *Jaina Philosophy of Language* by Dr. Sagarmal Jain, तथा मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य पर जैन दर्शन का प्रभाव, द्वारा- डा० बी० रमेश गदिया, का विमोचन किया गया। संस्थान तथा संगोष्ठी का परिचय एवं स्वागत करते हुए संस्थान के कार्यकारी निदेशक **डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय** ने उत्तर प्रदेश में १८ तीर्थंकरों की महत्त्वपूर्ण जन्मस्थली के कारण इसे सांस्कृतिक पर्यटन के मानचित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर लाने की अपील की। इस संगोष्ठी के कुल १० सत्रों में लगभग ७० विद्वानों ने अपने शोध आलेखों का वाचन किया। जिन विद्वानों ने अपने आलेख पढ़े उनमें मुख्य हैं- समणी कुसुम प्रज्ञा (देशाटन एवं प्राचीन यातायात-पथ), समणी ज्योतिप्रज्ञा (भारतीय संस्कृति को श्रमण परम्परा का योगदान), प्रो० नन्दलाल जैन (जैन परम्परा और पर्यटन), प्रो० भागचन्द जैन (जैन पुरातत्त्व और मूर्तिकला), (प्रो० रामजी राय पर्यटन स्थल राजगीर के विकास में जैनों का अवदान), प्रो० सुदर्शन मिश्र (बिहार के जैन पर्यटन स्थल- एक अवलोकन), डॉ० पाण्डेय अजयशंकर (पर्यटन का केन्द्र वैशाली), प्रो० संघसेन (श्रमण परम्परा को डॉ० भीमराव अम्बेडकर का अवदान), डॉ० सुनीता कुमारी (तीर्थ और पर्यटन-धार्मिक और लौकिक व्याख्याएँ), अंजनी कुमार मिश्र (पर्यटन की दृष्टि से वाराणसी के जैन तीर्थ), डॉ० शशि मिश्र बछउर (आजमगढ़) से प्राप्त कुछ जैन मूर्तियाँ), *Dr. Rajjan Kumar (Tīrtha, Tourism and Jainism), Prof. S. C. Bageri (Buddhist Heritage tourism in India : A study of Destination Interpretation and resources conservation in Uttar Pradesh and Nepal Footheels), Dr. Ashok Kumar Singh (Development of Jaina Yoga), Dr. B. N. Sinha (Contribution of Śramaṇa Tradition to Indian Culture & Tourism), Prof. M. N. P. Tiwari (Devagarha and Tourism), Dr. Arindam Bhattacharya (The Mahāparinibbānasutta & the Evolution of Buddhist Sacred Place), Dr. Kamal Jain (Prātikramaṇa an unparallel Contribution of Śramaṇa Tradition to Indian Culture), Dr. R. K. Jha (Śramaṇa Tradition & Tourism), Dr. A. P. Singh (Śrāvastī: the Sacred Place of Śramaṇa Tradition), Dr. Saswati Mutsuddi (Buddhist Sāmanerī Tradition: Past & Present), Dr. Rajesh Ranjan (Contribution of Śramaṇas to the Indian Tradition of Exegetical Literature)*, डॉ० इन्द्रेशचन्द्र सिंह (श्रमण परम्परा का भारतीय संस्कृति को अवदान), डॉ० हरिशंकर पाण्डेय (वैदिक एवं जैन चिन्तन में कला-विमर्श), डॉ० सुधा जैन (भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का अवदान- प्रेक्षाध्यान), सुश्री प्रतिभा मिश्रा (भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का अवदान), डॉ० राघवेन्द्र पाण्डेय (भारतीय न्यायशास्त्र को जैन न्याय का अवदान), श्री ओमप्रकाश सिंह (श्रमण परम्परा का पवित्र स्थल राजगृह), कु० ऋचा सिंह (पश्चिम भारत में जैन धर्म एवं तत्सम्बन्धी स्थल), डॉ० संजय कुमार पाण्डेय (भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उड़ीसा की श्रमण परम्परा के स्थापत्य कला का योगदान -उदयगिरि एवं खण्डगिरि की गुफाओं के विशेष सन्दर्भ में), डॉ० अशोक कुमार सिन्हा (पश्चिमी मिथिला की श्रमण परम्परा का पार्यटनिक वैभव - दशा एवं दिशा), डा० विजयकान्त दुबे (जैन दर्शन का पारिस्थितिकीय योगदान), डा० अजय कुमार गौतम (भारतीय संस्कृति में जैन शिक्षा का अवदान), डा० विजय कुमार (ऐकान्तिक धारणाएं और स्याद्वाद), डा० विनोद कुमार तिवारी (भारत की सांस्कृतिक यात्रा में श्रमण संस्कृति का अवदान), डा० डी० एन० प्रसाद (त्रिरत्न: भारतीय संस्कृति को जैन परम्परा का अवदान सर्वोदय और सम्पूर्ण क्रान्ति के विशेष सन्दर्भ में), डा० शारदा सिंह (जैन धर्म में सामाजिक मूल्य), तथा डा० अनेकान्त कुमार जैन (काशी में जैन पर्यटन की सम्भावनायें), आदि।

संगोष्ठी में विद्वानों द्वारा निम्न प्रस्ताव पारित कर उसे संस्कृति मन्त्रालय को भेजने की संस्तुति की गयी–

सांस्कृतिक पर्यटन के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु प्रस्ताव

1. श्रमण परम्परा की समृद्ध विरासत को देखते हुए बौद्ध परिपथ की ही तरह जैन परिपथ का विकास किया जाय और दोनों का संयुक्त नामकरण करते हुए "सांस्कृतिक परिपथ" नाम दिया जाय।
2. सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा एवं पर्यटकों के लिये आकर्षण के प्रमुख केन्द्र के रूप में "श्रमण ग्राम" की स्थापना उसी प्रकार की जाय जैसे लंदन में "सेक्सपीयर ग्राम" की स्थापना की गयी है। इस श्रमण ग्राम में कौसाम्बी, संकिसा, मथुरा, अयोध्या, गोरखपुर एवं वाराणसी के जैन तीर्थों का माडल बनाकर उसे एक ही जगह पर प्रदर्शित किया जाय।
3. सभी धार्मिक एवं सांस्कृतिक पर्यटन के स्थलों पर पर्यटकों से शासकीय कोश की समृद्धि हेतु टिकट की दर विकसित तीर्थों की अपेक्षा अविकसित तीर्थस्थलों पर कम रखी जाय जिससे अधिक से अधिक पर्यटक सुविधाजनक ढंग से इन स्थलों पर भ्रमण कर सकें।
4. सभी प्रमुख स्थानों पर शासन की ओर से श्रमण संस्कृति के माध्यम से सांस्कृतिक पर्यटन को बढावा देने के उद्देश्य से होर्डिंग्स, ब्रोशियर एवं अन्य सूचनापरक प्रकाशनों की व्यवस्था प्राथमिकता पर कराई जाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5. टूरिस्ट गाइड, होटल प्रबन्धकों एवं बुद्धिजीवियों की एक संयुक्त बैठक बुलाकर श्रमण संस्कृति के प्रमुख पक्षों को उद्घाटित किया जाय और उन्हें पर्यटकों को सहज ढंग से व्याख्यायित करने की ट्रेनिंग प्रदान की जाय।
6. जैन एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित "मोमेन्टोज' एवं लघु प्रदर्शों, फोटोग्राफ्स आदि के विक्रय एवं वितरण की व्यवस्था शासन स्तर से इन स्थलों पर कराई जाय।

संगोष्ठी में **नेशनल पॉलिसी ऑफ लाइब्रेरी एण्ड इनफारमेशन सिस्टम (NPLIS)** पर विशेष सत्र (दिनांक- २४ दिसम्बर २००६, समय- प्रात: ८.३० बजे) आयोजित किया गया। इस सत्र के मुख्य अतिथि थे- प्रो० आर० एस० दूबे, प्रोफेसर इंचार्ज, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अध्यक्षता की डॉ० एल० एम० पी० सिंह, सीनियर कन्सल्टेन्ट (लाइब्रेरी साइंस),उ०प्र० राजर्षि टण्डन वि०वि० ने। इस सत्र के सारस्वत अतिथि थे- श्री बी० एन० सिंह, वरिष्ठ उपग्रन्थालयी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा विशेष अतिथि थे -डॉ० हीरक चक्रवर्ती, विभागाध्यक्ष (लाइब्रेरी साइंस) सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि०। इसमें जिन विद्वानों ने भाग लिया उनमें मुख्य है- श्री राजेश मिश्रा, प्रलेखन अधिकारी, केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षण संस्थान, सारनाथ, श्री राम कुमार दांगी - लाइब्रेरियन, विधि संकाय, बीएचयू, श्री दुर्गेश सिंह, लाइब्रेरियन, दर्शन विभाग, बीएचयू, श्री नवीन उपाध्याय, लाइब्रेरियन, प्रौद्यौगिकी सं० बीएचयू ,डॉ० संजीव सर्राफ, लाइब्रेरियन, इन्स्टीट्यूट आफ मेडिकल साइन्सेज, बीएचयू, आदि। सभी विद्वानों ने पुस्तकालय के माध्यम से जैन साहित्य के विकास पर अपने-अपने शोध आलेख पढे। इस अवसर पर संस्कृति मंत्रालय को भेजने हेतु एक प्रस्ताव पारित किया गया जो निम्न है-

1. A National Policy on Library and Information System is essential need. This Policy should look into the provision of a strong networking system connecting the libraries of all educational institutions of the countries particularly working in the field of Jaina Studies.
2. Every individual of this country should have the right to access the information.
3. Due to religious and cultural importance of Varanasi, a library of National heritage importance should be developed in Varanasi.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिनांक 25–12–2006 को अपराह्न 3.00 बजे समापन सत्र का प्रारम्भ हुआ। इस सत्र के मुख्य अतिथि थे **प्रो0 एस0 एस0 कुशवाहा, कुलपति, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ**, अध्यक्ष थे –**प्रो0 आंगने लाल, पूर्व कुलपति, डा0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद तथा** सारस्वत अतिथि थे **प्रो0 राय आनन्दकृष्ण** प्रसिद्ध कलावेत्ता। इस सत्र के प्रारम्भ में संस्थान के कार्यकारी निदेशक **डा0 श्रीप्रकाश पाण्डेय** ने तीन दिनों तक हुई सम्पूर्ण चर्चा पर प्रकाश डाला तथा प्रो0 सीताराम दुबे ने सविस्तार संगोष्ठी के सभी सत्रों मे हुये 76 शोधपत्रों के वाचन और उनके महत्त्व को रेखांकित किया। प्रो0 एस0 एस0 कुशवाहा, प्रो0 आंगने लाल तथा प्रो0 राय आनन्दकृष्ण, ने **'श्रमण परम्परा द्वारा भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन को दिये गये अवदान** की चर्चा करते हुए इस संगोष्ठी को इस दिशा में मील का पत्थर बताया। अन्त में धन्यवाद ज्ञापन संस्थान के कार्यकारी निदेशक डा0 श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया।

जैन ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद हेतु प्रगत जैन शब्दावली का प्रकाशन

उच्चतर जन ग्रन्थों में अंग्रेजी अनुवाद हेतु प्रगत शब्दावली **(Advance Glossary)** की आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था। इसे ध्यान में रखते हुए **"श्रुत संवर्धिनी महासभा"** तथा **"आर0 के0 चैरिटीज"** के सहयोग से डा0 नन्दलाल जैन द्वारा संकलित प्रायः 5000 उपयोगी शब्दों की प्रगत शब्दावली **(Advance Glossary of Jaina Terms)** के नाम से पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित की गयी है। इसका कुशल सम्पादन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के कार्यकारी निदेशक डा0 श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया है। यह **महासभा कार्यालय, दिल्ली–लखनऊ** तथा **पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी** से प्राप्त की जा सकती है। आशा है इससे न केवल अनुवाद कार्य में एकरूपता आयेगी अपितु जैन साहित्य के विश्वीय संप्रसारण में भी सहायता मिलेगी।

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण, वर्ष ५७, अंक ३-४
जुलाई-दिसम्बर २००६

पुस्तक समीक्षा

ग्रन्थ का नामः समयसार, लेखक : कुन्दकुन्द, हिन्दी टीकाकार, डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक : श्री कल्याणमल राजमल पाटनी, सिद्ध चेतना ट्रस्ट, कोलकाता एवं पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट ए-४, बापू नगर जयपुर-१५ (राज.) साइज, पृष्ठ ६२७ मूल्य-५० रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य शिरोमणि कुन्दकुन्द का जैन जगत् में क्या स्थान है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। आचार्य का नाम न केवल जैनजगत् अपितु भारतीय संस्कृति के अन्य विद्वानों और आचार्यों द्वारा सम्मान के साथ लिया जाता है। वैसे तो समयसार पर अभी तक अनेकों प्रकाशन किये जा चुके हैं किन्तु इस ग्रन्थ की विशेषता है कि इसकी टीका तथा पद्यानुवाद दोनों का महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ० हुमचन्द भारिल्ल द्वारा किया गया है। यही विशेषता इसे समयंसार पर हुए अन्य प्रकाशनों से अलग सिद्ध करती है।

इस ग्रन्थ में ग्यारह परिशिष्टों के अन्तर्गत ४१५ गाथाओं का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही संवर और निर्जरा जिसे मोक्ष का प्रधान कारण माना जाता है, का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों के माध्यम से किस प्रकार सम्यक् दर्शन, ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष प्रकट होता है तथा बन्धन से ग्रस्त मानव किस प्रकार बन्धन से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करता है, इसकी उदाहरण सहित बहुत ही सरल और भावपूर्व अभिव्यक्ति डॉ० भारिल्ल द्वारा की गयी है। यह ग्रन्थ निश्चित रूप से उन लोगों के लिये स्वाध्याय का विषय है जो मोक्ष के चिन्तन में अपने चित्त को व्यर्थ ही इधर-उधर भटका कर अपना वक्त गवां रहे हैं। इस ग्रन्थ का सार यही है कि मनुष्य को अपने चित्त को एकमात्र मोक्षमार्ग में स्थापित करना चाहिए, इसकी उपलब्धि हेतु ही तत्त्वों का ज्ञान, पाप-पुण्य अधिकार, आस्रव, निर्जरा, बन्ध आदि का विवेचन किया गया है।

मोक्ष निश्चयनय की दृष्टि से सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, ही है अतः परद्रव्यों में विहार न करके अपने को स्वात्मा में स्थापित करना चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति शुद्धनय रूप आत्मा को जानता है, वही ज्ञाता है। इसी को इस ग्रंथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में नव तत्त्वों तथा बन्ध, हेतु आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के विषय में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के यह शब्द "यह समयसार आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार है, यह जिनशासन का स्तंभ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, सर्वथा सार्थक प्रतीत होते हैं। इसकी हर गाथा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव से निकली हुई है।

ग्रन्थ के अन्त में ग्यारहवें परिशिष्ट के अन्तर्गत आचार्य अमृतचन्द ने 'आत्मख्याति टीका' के परिशिष्ट के रूप में अनेकान्त, स्याद्वाद, उपाय-उपेय भाव एवं ज्ञानमात्र भाव आदि शक्तियों का वर्णन किया है जो पाठकों के ज्ञानवर्द्धन में सहायक है। विद्वान लेखक डॉ. भारिल्ल इसपर अद्भुत हिन्दी टीका कार्य के लिये बधाई के पात्र हैं। ग्रन्थ की बाहरी साज-सज्जा आकर्षक व मुद्रण स्पष्ट है।

ग्रन्थ का नाम– प्रश्नोत्तर, लेखक– मुनिश्री जयानंदविजय जी, प्रकाशक– श्री गुरु रामचन्द प्रकाशन समिति, भीनमाल, राजस्थान, साइज– डिमाई पृष्ठ २७१, मूल्य– अज्ञात।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रश्नोत्तर' जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है इसमें जिज्ञासुओं के प्रश्नों का लेखक द्वारा समाधान किया गया है। ग्रन्थ में कुल १०९२ प्रश्न हैं जो न केवल जैन धर्म के सभी प्रधान व गूढ़ विषयों पर आधारित हैं अपितु आधुनिक युग में भी अनेक ज्वलंत विषयों से सम्बन्धित हैं जिनका उचित समाधान लेखक द्वारा इस ग्रन्थ में दिया गया है।

आधुनिक युग में मानव की व्यस्तता ने उसे ग्रन्थों के पठन-पाठन का इतना अवसर नहीं दिया है कि वह अपने मन में उठी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये बहुत से ग्रन्थों का सहारा ले। फलतः धर्म विषयक अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो हमारे उचित-अनुचित आचरण की मर्यादा को निश्चित करते हैं,किन्तु उनका हमें सम्यक् ज्ञान नहीं होता है। ऐसे में इस ग्रन्थ का स्वाध्याय हमारे लिये निश्चित ही लाभदायी होगा। इस ग्रंथ की विशेषता है कि यह अनेकानेक प्रश्नों का सम्यक् समाधान हमें एक ही पुस्तक के माध्यम से उपलब्ध करा देता है। इस श्लाघनीय कार्य के लिये लेखक अवश्य ही बधाई का पात्र है। ग्रन्थ की बाहरी साज-सज्जा आकर्षक व मुद्रण सत्वर एवं सुन्दर है।

डा० शारदा सिंह, पोस्ट डाक्टोरल फेलो, आई०सी०पी०आर०

2860

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi